

इदं पुस्तकं श्रेष्ठि-देवचन्द्र-लालभाई-जीन-पुस्तकोद्धारसंस्थायाः कार्यताहक गोतीचंद गगतभाई चोकरजी
इत्यनेन भावनगरे छाईकोर्ट रोड, महोदयगुहण-मन्दिरे गोविंदलाल बेचरभाई पवेल द्वारा मुद्रापितम् ।

वस्य पुनर्मुद्रणायाः सर्वेऽधिकारा एतद् भाण्डारभारकार्यवाहकैरागतीकृताः ।

Preserved by the Trustees of the Fund. Printed by Govindlal Becharbhai Patel
{hodaya Printing Press, High Court Road, Bhavnagar (Saurashtra)

For Shethi Devchand Lalbhai Jain Postakodhar Fund, Shethi Devchand Lalbhai
Jain Boarding House, Badekhan Chakra, Chopnua, Surat,
by Hon. Trustee Motlechand Magambhai Choksi.

Sheth Devchand Lalbhai Jain Pustakodhar Fund Series No. 110

Shree Suyagadang Sutra

(Second Part - Second Shrutaskandh)

By
Shreemad Sudharmaswami
Commentary By
Shree Sadhurang Gani
and
Shree Harshakul Gani

Vir Samvat 2489

Vikram 2019

Price Rs. 3-0-0

श्रेष्ठ-नेनन्त्र लाठभाई-जैनपुस्ताकोसारे ग्रन्थाङ्कः ११०

पद्यमगणभृद्गीमत्सुचर्मस्त्रामिपणीतं ररतरगच्छगगनाज्जभाररुपपाठकप्रवर-

धीमत्साधुरङ्गणिसङ्कलितया दीपिकया समलङ्कितं

श्रीसूयगडाङ्गसूत्रम् ।

(द्वितीयश्रुतस्कन्धात्मको द्वितीयो विभागः)

तथा श्रीत । गच्छीगहर्षकुलगणिविरचितदीपिकाया विशिष्टभागेन संयुतम् ।

सम्पादकः—क्रियोद्वारकरुश्रीमन्मोहनलालजीमुनिरनिनेय स० अनुयोगाचार्य

श्रीमत्केशरमुनिजीगणिसर-निनेयो बुद्धिसागरो गणिः ।

पत्राशकः—सुरतनास्तव्य भेषि देवचन्द्र लालभाई जैनपुस्तकोद्धारकोशस्य कार्यनाहको

मोतीचंद मगनभाई चोरुसी ।

पिसस्य २५८३

पिकामस्य २०१९

* * *

शाके १८८५

पिसस्ताब्दाः १९६२

पद्यम गंरुणम् ।

* निरुणे रूप्यकयम् ।

*

प्रतय ५००

इदं पुस्तकं श्रेष्ठि-शैलचन्द्र-लालभाई-जीन-पुस्तकालय-संस्थायाः कार्यालयात् मोतीचंर भवनभाई चोपशी
वृत्तनेन भावनगरे हाईवोर्ट रोड, महोदयगुरुण-गन्धिने गोविन्दलाल नेचरभाई पब्लिक् द्वारा मुद्रागितम् ।

वाराणसी पुनर्मुद्रणायाः सर्वस्वभित्तारा एतद् आण्डरगारकार्यनाइकेरागतीकृतम् ।

All Rights Reserved by the Trustees of the Fund. Printed by Govindlal Becharbhai Patel
at the Mahodaya Printing Press, High Court Road, Bhavnagar (Saurashtra)

Published for Shethi Devchand Lalbhai Jain Pustakodhan Fund, Shethi Devchand Lalbhai
Jain Boarding House, Badekhan Chakla, Chopipura, Surat,
by Hon. Trustee Motichand Maganbhai Choksi.

Sheth Devchand Lalbhai Jain Pustakodddhar Fund Series No. 110

Shree Suyagadang Sutra

(Second Part - Second Shrutaskandh)

By
Shreemad Sudharmaswami
Commentary By
Shree Sadhurang Gani
and
Shree Harshakul Gani

Vir Samvat 2489  Vikram 2019

Price Rs. 3-0-0

The Board of Trustees

1	Nemchand Gulabchand	Zaveri
2	Talakchand Motichand	"
3	Babubhai Piemchand	"
4	Amichand Zaverchand	"
5	Keshrichand Huachand	"
6	Motichand Maganbhai	Choksi

Hon Managing Trustee

સંસ્થાનું ડેરની સંડળ

૧	શ્રી નેમચંદ ગુલાબચંદ	ઢેવચંદ	અવેડી
૨	" તલકચંદ	મોતીચંદ	"
૩	" બાબુભાઈ	પ્રેમચંદ	"
૪	" અમીચંદ	ઝવેરચંદ	"
૫	" કેશરીચંદ	હીચંદ	"
૬	" મોતીચંદ	મગનભાઈ	ચોકસી

માનક મેનેજીંગ ડેરની



પ્રકાશકીય નિવેદન



આગમવિભાગના અપ્રગટ અથોની અમારી પ્રકાશન-યોજનામાં આ પચમ પ્રકાશન પ્રગટ કરતાં અનહદ આનંદ પ્રાપ્ત થાય છે આ અથનો પ્રથમ ભાગ વિ. સ ૨૦૧૫ માં બહાર પડી ગયો છે. બીજા શુનસ્કંધરૂપ આ બીજો ભાગ પ્રસિદ્ધ કરતાં અમે અત્યત આનંદ અનુભવીએ છીએ.

આ અથનું નામ પ્રાકૃતમાં સૂચગડાંગ અને સસ્કૃતમાં સૂત્રકૃતાંગ છે. અથ અંગેની માહિતી પ્રથમ વિભાગમાં સવિસ્તર આપેલી છે

વિવરણ:—આ સૂત્ર ઉપરની દીપિકાનું નામ સમ્યક્ત્વ દીપિકા પણ છે. તે સિવાય આ સૂત્ર ઉપર આચાર્ય શ્રી હેમવિમલસૂરિના શિષ્ય હર્ષકુલગણિએ સ. ૧૫૮૩ માં ૬૬૦૦-૭૦૦૦ શ્લોકપ્રમાણુ દીપિકા રચી છે. જે બાબુ ધનપત-ત્રિંકલ તરફથી મુદ્રિત થઈ છે, તેમાનો સારભાગ આ અથમાં પાછળ આપવામાં આવેલ છે તેમ જ આ અંથ ઉપર બાણાવબોધ શ્રી પાર્થવ્યદ્રસૂરિએ કરેલ છે.

બીજી દીપિકા— શ્રી સાધુરંગ ઉપાધ્યાયે રચી છે. જેનો પ્રથમ ભાગ અમારા તરફથી બહાર પડી ચૂક્યો છે. બાકીના બીજો ભાગ આ અથમાં પ્રસિદ્ધ થાય છે. આ અથની પ્રેસકોપી ગણિ શ્રી યુક્તિસુનિજી તરફથી અમને મળી હતી. જે અમે સાભાર પ્રકાશિત કરી ચૂક્યા છીએ આ સૂત્રનો ટો (બાણાવબોધ) ગુજરાતી ભાષાંતર આં શ્રી જિનમણિક-સૂરિજી વગેરે તરફથી પ્રકાશિત થયા છે. અંગેજીમાં હર્મન જેકોબી તરફથી ભાષાંતર થયુ છે.

આ મંથની પ્રેસકોપી તયાર કરી સરોધન કરી આપવા માટે ગણિવર્થ શ્રી યુદ્ધિચુનિજનો અગે ખાગ ઉપકાર ગાનીજો છીજો પ્રથના પ્રથમ ભાગનુ સપાકન ખણ તેજોશ્રીજો કસુ હતુ. બીજા ભાગના ખણ ચોટા ભાગનુ સપાકન તેજો શ્રીજો કરેલ છે. મૂળ ત્રીપિકાના અત ભાગનુ ચુદ્ધલ કાર્ય ચાલુ હતુ, તે અભ્યાસ તેજોશ્રીની તબીયત અત્યત અસ્વસ્થ બની, આથી સરોધનનુ કાર્ય ૫૦ કપૂરવ્યદ સુષુષ્ટોદેહાસ વાર્યાને સોંપવામા આવ્યુ. તબીયત અસ્વસ્થ હોવા છતાં પૂદ ગણિ શ્રી છેલ્લી મૂંકા બતે તપાસતા. આ રીતે તેજોશ્રી કેવગત થવાથી બાકીની ચોટર માટે બીજાની મદદ હોવી પડી છે. તેજોશ્રીના આત્માની આ તકે શાંતિ મુચ્છીજો છીજો

આ પ્રથની પ્રસ્તાવના લખી આપવા માટે આં શ્રી કૃપાયદ્રસરિજી મના ગિજી ઉપાં શ્રી મુખમાગરજી મના શિષ્ય પૂં સુનિરાજ શ્રી મંગલમાગરજી મધારાજશ્રીનો તથા મદલ સંચોનો તથા મુલાગિત મધ-પદ-ગ મદનો અકારાદિ કમ તયાર કરી આપવા બદલ ગણિવર્થ શ્રી યુદ્ધિચુનિજી મધારાજના ગિજી પૂં સુનિ શ્રી જ્યાનદસુનિજી મનો આભાર ગાનીજો છીજો,

મદિદોષ કે ચુદ્ધલ્યુદોષથી જે કઈ સ્થાલનાજો સહી જવા પાગી હાય તેની અત કરણથી કામા ચાસીજો છીજો

સં. ૨૦૧૯
મોન ચોકાકશાં
(માગશર સુદિ ૧૧

તિં
મોતીચંદ મગનલાલ ચોકસી
ગેનેજીગ દસ્ત્રી
શેઠ દેવચંદ લાલભાઈ પુસ્તકોપજાર કેડ, સુરત.

निवेदन ।



भगवान् श्री गदावीर स्वामिजी के युग से “ उपदेश वा ” “ विशेष वा ३ ” इय प्रकार त्रिपदी सुग करके गणधरो ने हावडाही की रचना करने समय प्रथम आचाराङ्ग सूत्र की रचना की कारण की “ सञ्ज्ञेति आयारो निरुथस्म पत्रोणे पदसयाण् संसाह् श्रंसाह् एकारस अणुपुत्रिण् ” (आचा० नि० गा. ८)

नीचेकर समान् अपने अपने तीनों प्रवर्तन के समय आदि में आचार को हि प्रधानता देने है । आत्मकल्याणार्थ तीनों के लिए तो “ वरण करण ” ही मोक्षप्राप्ति का प्रधान साधन है ।

अनृत सूत्रकुनाङ्ग दुगरे नखर का सूत्र है, सूत्रकुनाङ्ग का आचाराङ्ग सूत्र के साथ सम्बंध बतलाते हुये नियुक्तिकार श्री भद्र-भाट्टस्वामि कहते है “ तीनों लुकाय परुवणाय तेषि वहेण वंचोति ” (आ० नि० गा. ३५)

अपरोक्ष पाठमे स्पष्ट है की आचाराङ्ग सूत्र में बतलाए हुए पृथ्वीकाय आदि पद जीवनिर्काय प्राणियों के वधसे याने हिमो से पम्पत्र होने वाले कर्पो का “ नय ” अर्को समझो और मयझने के बाद ज्ञानपूर्वक क्रिया द्वारा त्याग करो “ बुञ्जिअत्तनि निउट्टिआ वंणं परिगाणिया ” इत्यादि उपरोक्त सूत्रकुनाङ्ग के आरिस सूत्र में (सू. १) श्री गणधर सुधर्मास्वामि बतलाते है कि कर्म-

१ भगवान् गदावीर ने अपनी कर्म-ज्ञातिक मापना के बाद जो लगुसव ररग प्राप्त किया उसके एक अन्न में सचिन किया गया है कि कोइ भी पुरय

बन्धनों का मूलभूत कारण समज के विशिष्ट संयम अनुष्ठान द्वारा क्रिया करके आत्मा को-कर्मों के बन्धन से मुक्त करो ।
 यहा पर अन्य दर्शन वाले कोई एक केवल ज्ञान से मोक्ष मानते है । और दुसरे दर्शनानुसारी केवल क्रियासे ही मोक्ष मानते है ;
 परंतु जैनदर्शन में तो “ उभाभ्यां ज्ञानक्रियाभ्यामेव मुक्तिः ” ज्ञान और क्रिया दोनों मिलने पर ही मोक्ष है, ऐसा
 ज्ञानपूर्वक क्रिया द्वारा प्रत्यक्ष सिद्ध करते है ।

अतः प्रस्तुत सूत्र-कृताज्ञ में द्रव्यानुयोग प्रधान होने से नग-निशेषादिक के हररूपों का वर्णन करते समय तिनसो त्रेसठ
 (३६३) पाखण्डियो का मत का खण्डन करके, इस ग्रंथ में अर्हत भगवान् के सिद्धान्तों का सुंदरतापूर्वक प्रतिपादन क्रिया है ।

पठपाठन से भव्य जन जैनदर्शन के सिद्धांतों (द्रव्यानुयोग) का विशुद्ध रूप से ज्ञान प्राप्त कर सकते है ।
 * मूल-निर्युक्ति-श्रीश्रीलाङ्गाचार्य कृत टीका तथा श्रीहर्षकुरुल्लगणिकृत वीपिकासह प्रथम छप चुका है ।

जानी हो तो उसका सार यही है कि वह अपने आत्मज्ञान के कारण विभक्तिमान का उपयोग करता हुआ जिनो ही दिया नहीं करना । जिनो भी यणी को
 न सताता है, न सताता है, न सताता है, न सताता है । यहि अद्विधा सिरान्त है । इतो मे विज्ञान का अन्तर्गत हो जाता है ।

॥ जिनो सारं जं न हिसह किंचण । अहिंसा समयं चैव पर्यावन्तं चियाणिया ॥

पाटलिग १ । १ । ४ । १० ।

आधुनिक विज्ञान और अहिंसा ।

* —गणेशमुनि शास्त्रि,

सम्पादक — मुनि मन्त्रिसागरजी

पुस्तक श्रीमद्भागवत-टीका श्रीमन्निरुद्धाचार्य के आदेश से पाठक प्रवर श्रीमाधुरागण द्वारा सं १५९९ वर्षे सङ्कलित
"दीक्षा" नामक प्रथम बार की मुद्रण हो रहा है ।

प्रमुद्रण मूलरुद्ध ने मन्त्रेयार्थ बोधिनी "दीपिका" के सम्पादन में गणितार्थ श्री बुद्धिप्रुतिनी महाराज द्वारा सम्पादन
प्र-नों का परिसर उस प्रकार है । —

(१) देव संज्ञानमंडार की थी, आगमप्रमाडर सुनिर्वय श्री पृथ्विविजयती महाराज द्वारा मिली थी जिष्ठ का लेखनकार्य
का प्रार है—

सं १९१४ में ज्येष्ठ शुद्धा चतुर्दश्याम् लिपिकुत्राज्ये पुस्तिका उपाध्याय महेशचन्द्रेण श्रीहृन्दोरसब्ये श्री केश-
रियानाथी प्रमाडान् ।

(२) मणि पूजा के मान्यारकर-राज्य विद्यासंजीवन मन्दिर ली थी पत्र संख्या २१३ । इसके अंत में छिखनेवाले का नाम
श्रीमत्पद्मेश्वर नदी के है, यह तब लीतुर् जगदंबेजी महाराज द्वारा पत्र हुई थी ।

(३) लिपिकुत्र (सम्पादन) लोदी कर्नैरुद्ध में ही सं-के ज्ञानमन्दिर से प्राप्त ली. पत्र संख्या ११४ । इसके अंत में
श्रीमद्भागवत-टीका उपाध्याय महेशचन्द्रेण श्रीहृन्दोरसब्ये श्री केशरियानाथी प्रमाडान् ।

कल्लेदी (फल्लवृद्धि) वास्तव्यः । ईन्दीये

बलेख इस प्रकार है । सम्भवत् १९४९ वर्षे कार्तिक सुदि पूर्णिमासी मेदनीपुरवरे ॥

(४) प्रति कञ्च माण्डवी नगर में श्री धर्मनाथस्वामि प्रसादस्थ ज्ञानभंडार में सुरक्षित है, पत्र सं. ७६ पञ्च पाठी ।
प्रान्त में पुष्पिका इस प्रकार है—

सनत् १६६७ वर्ष मागसिर मासे शुक्ल पक्षे एकादश्यां तिथौ गुरुवासरे श्री जेसलमेर दुर्ग प्रवरे, राउलश्री भीमजी राज्ये, श्री लोका गच्छे आचार्य श्री ६ रत्नसीजी पठनार्थ, संघपति तेजपाल पुत्रे संघपति जीवा, ततः पुत्रे संघपति कचरा, स्वहस्तेन लिखिता, ऋषि श्री पृथ्वीमह्य ऋषिरत्ना, लिखापिता वाच्यमाना शुभं भवतु ।

उपरोक्त प्रतिभों के आधार से स्वर्गस्थ मुनिजी गणिजी ने संशोधन करने का प्रयास किया और भव्य जीवो के उपकारार्थ द्वितीय दीपिका श्री हर्षकुलगणि रचित भी इसमें संमिलित की गई है, इसलिये पढनेवालो को बडी सुविधा रहेगी ।

संशोधन करते समय बृहद्बृत्ति एवं हर्षकुलगणि की दीपिका संयुक्त रखके संशोधन किया है किसी किसी जगह पर उपयोगी पाठ समज करके पाठो के टिप्पण भी किए गये है । हर्षकुलगणिनिरचित दीपिका इस प्रतिभे संपूर्ण नहि छपा है, इसका महत्त्वपूर्ण भाग हि इसमें दिया है ।

पाठऋप्रवर श्री साधुरंगगणि का विशेष परिचय नहीं मिलने से यहां नहीं ने सकता हु और जो परिचय है सो इस ग्रंथ के अंतिम प्रशस्ति पृष्ठ-सं. १५४ पर दी गई है. इससे उनका परिचय मालुम हो जाता है.

अत्यंत परिश्रम करके संपादन किया है।
 एवं पंडित कपुरचंदजी वरैया को भी तबि-
 कोई त्रुटीयां रह गई

सावधानी रखने पर भी यदि
 उपादा सावधानी रखने पर भी यदि
 जीन महाशयोने सहायता की है वह धन्यवाद के पात्र है.
 प्रस्तावना आदि लिखने की सूचना मिलने
 भी मूलसूत्र की अकारादि परिशिष्ट
 श्री युक्त केसरीचंदजी हीराचंदजी के द्वारा

शिव्य जयानंदमुनिने भी मूलसूत्र की अकारादि परिशिष्ट

साथ सफल करे. इति शुभेच्छा ।

निवेदक :—
 सपाध्याय श्री सुखसागरजी म. के शिष्य

मुनि मङ्गलसागर



श्री० नाथचन्द्र पाण्डे

भारत-पालीनाणा.

म. २०१८ कार्तिक शुक्ल १९

परिशिष्ट नं. १

मूलसूत्राणामकाराद्यनुक्रमः ।



अ

अह पुरिसे पुरिस्थ०
 अहावरे दोषे पुरि०
 अहानरे तने पुरि०
 अहानरे चउत्थे पुरि०
 अह भिक्खु लुहे०
 अचमाउसो आता दीहेती०
 अहानरे दोषे पुरि पंच०
 अहावरे चउ० पु० नियति०

पत्रांक

१

२

३

४

५

९

१३

१६

अहावरे दोषे वंड०

अहावरे तने वंड०

अहावरे चउ० वंड०

अहावरे पंच० वंड०

अहावरे छट्ठे भोस०

अहावरे सत्तमे किरिया०

अहा० अट्ठमे किरिया०

अहा० नवमे किरिया०

अहा० दसमे किरिया०

पत्रांक

३७

३९

३९

४०

४१

४१

४२

४२

४३

११५	अथा० पुर० कम्मनिया०	७८
११६	अथा० पुर० रुक्सेसु०	७९
११७	अथा० पुर० अज्जारु०	८०
११८	अथा० पुर० पुढविजोणिया०	८१
११९	अथा० पुर० जाव कम्म०	८२
१२०	अथा० पुर० कम्मनिया०	८३
१२१	अथा० पुर० उदएसु०	८४
१२२	अथा० पुर० चैव पुढवि०	८५
१२३	अथा० पुर० नाणविहाणं०	८६
१२४	अथा० पुर० नाणाविहाणं०	८७
१२५	अथा० पुर० चउप्पय०	
१२६	अथा० पुर० उरपरि०	
१२७	अथा० पुर० सुयपरि०	

११५ अथा० पुर० कम्मनिया०
 ११६ अथा० पुर० रुक्सेसु०
 ११७ अथा० पुर० अज्जारु०
 ११८ अथा० पुर० पुढविजोणिया०
 ११९ अथा० पुर० जाव कम्म०
 १२० अथा० पुर० कम्मनिया०
 १२१ अथा० पुर० उदएसु०
 १२२ अथा० पुर० चैव पुढवि०
 १२३ अथा० पुर० नाणविहाणं०
 १२४ अथा० पुर० नाणाविहाणं०
 १२५ अथा० पुर० चउप्पय०
 १२६ अथा० पुर० उरपरि०
 १२७ अथा० पुर० सुयपरि०

पत्राक
१२२
१२३
१२३
१२८
१३७
९
३५
९३
९६
१०३
११८
१२१

अहिसयं सन्वपयाणुं०
अहवा वि विद्धुण०
अजोयरुवं इह०
अन्वतरुवं पुरिसं
अन्भाहक्खंति खलु
आ
आसदीपंचमा पुरिसा०
आयरिया वेगे अणारिया०
आया अपच्चख्खाणी आवि०
आचार्य आह-जहा से०
आदाय वंभचेरं च०
आगंतुगारे आराम०
आरंभगं चैव परिगहं०

पत्राक
८७
८८
८९
९०
९०
९०
९१
९१
९२
९४
९४
१०६
११२

अहा० पुर० खहर०
अहा० पुर० इहेगतिया०
अहा० पुर० सत्तानाणा०
अहा० पुर० सवाउदग०
अहा० पुर० उदएसु०
अहा० पुर० नाणचिह०
अहा० पुर० वाउकाय०
अहा० पुर० पुढवित्ताए०
अहा० पुर० सन्वे पाणा०
असतएणं मणेणं०
अन्नयरेण मणेण०
अहाकम्माणि सुंजंति०
असेसं अक्खयं वा०

आवसतो गोयमा०
 आवसो गोयमा०
 आवसतो उद्गमा०
 इ
 इह खलु पाइणं वा०
 इह खलु पंच मह०
 इह खलु धम्मा पुरिसा०
 इमं सच्चं इमं तहित्तं
 इह खलु दुवे पुरिसा०
 इथेते चत्तारि पुरिस०
 इह खलु पुरिसे अज्ज०
 इह खलु मम अज्ज०
 इह खलु कामभोगा०

पत्रांक
 १३४
 १३४
 १५३
 ७
 १४
 १६
 १८
 १९
 २१
 २२
 २३
 २३

इह खलु मम अज्ज०
 इह खलु गारत्था सारंमा०
 इह खलु गा० कामभोगा०
 इह खलु तस्स भिक्खुस्स०
 इह खलु नाणपण्णाणं०
 इथेयस्स ठाणस्स०
 इथेपहिं वारस्सहिं०
 इति खलु ते असज्जिणो०
 इथेपहिं ठाणेहिं०
 इमं वयं तु तुमं पाव०
 उ
 उग्गा उग्गपुत्ता०
 उच्चं पादतला अहे०

पत्रांक
 २४
 २६
 २७
 ३३
 ४९
 ६०
 ७५
 १००
 ११३
 ११७
 ८
 ८

सु अहेयं तिरिं०
सु अहेयं लि० विनाय०

ए

एवं एगे पागन्निभता०
एवं से भिस्तु निरप०
एत्य वि सिया एत्या०
एवं से भिस्तु धम्मरही०
एवामेव ते इतिगहमेहिं०
एवामेव समणुगम्म०
[एव] ओसदीणं वता०
एतं सल्ल भाजया०
एत से भिस्तु विरते०
एपहि दोहि ठणेहिं०

११६
२१८
२२४
२२
२५
२०
२४
३५
७२
८१
१०१
१०२
१०३

एपहि दोहि ठणेहिं०

.. ..

एपेहि दोहि ठणेहिं०

एगतमेव अहमादि०

एत ए भिस्तु न संस०

एवं एह पापतापं०

क

किणिए ताए समणाएसी०

किरिणइ ए अकिरि०

किरियाति वा ताए०

कट्टणे पाए वा नि०

किं दोसि वएलया०

ग

गंता ए अथा वएया०

११६
२१८
२२४
२२०
२१५
२२१
२३१
१
११
२१
२१२
२५५
२२०

पत्राक
१०६
११७
१२५
१२६
१३०
११९
१२०
१२२
२८
३३
३५

जमिदं ओरालमाहारं०
जेयावि वीओदग मोति०
जीवाणुभागं सुविचित०
जे यावि भुंजंति तहस्प०
जे गरहियं ठाणमिहा०
ण
णोऽकामकिष्वा ण य०
णनं ण कुब्जा विहुणे०
णेगंतिपऽणञ्चंति०
त
तत्थ खलु भगवया०
तत्थ भिक्खु परकडं०
तत्थ णं [जे से] पढमस्स०

पत्राक
३०१
१८
२८
२९
३०
३१
३१
६४
९७
१०१
१०४

च
चोगः-से कि कुब्जं०
ज
जेपि च इमं समाणार्णं०
जे खलु गारया सारंभा०
जे [च] जतीया०
जे इमे तसा यावरा०
जे इहे कामभोगा०
जेति ग इमं संसरा०
जति र हे जडिन्तुरिया०
तथा मे वइर तरस वा०
जे एए मन्वी क जमनी०
जे हेउ तुक्कग मन्ना०

पत्रांक
५८
५८
५९
६५
७०
७३
८४
८५
८७
८७
९७
१००
१०१

ते इणमेव जीवितं०
तं गद्दा अन्नं अन्नकाले०
तरस णं एगगवि०
तेणं णरगा अंतो०
तेण तरथ देया भवंति०
ते सन्धे पावान्तया०
तरथ ण जीवा हत्थि०
ते जीवा माउए सवं०
तरथ खलु भगवया०
तरथ खलु भगवता०
तरथ खलु भगव० दुये०
तरथ से अपिचि[चि]ता
तरथ खलु भगव० छळीव०

ते अन्नमन्नसत्तु०
तं भुंजमाणा भिसित०
तेणं फालेणं तेणं समए०
तरथ णं नालंदाए०
तरस णं छेवरस गाहा०
तरसि च ण गिहपदे०
तसेहि पाणेहि निहाय०
तसा वि बुच्चंति तसा०
तरथ आरेणं जे तसा०
तरथ जे आरे० जाव आलं०
तए णं से सद्दए पेढाल०
थ
थूलं तरब्भं इह मारि०

पत्रांक
११७
१२६
१३३
१३३
१३३
१३४
१३९
१४०
१५०
१५१
१५३
१२५

पत्राक
१०७
१०७
१०८
१०८
१०८
१०८
१०९
१०९
१०९
१०९
११०
११०
११०

नस्थि जीवा अजीवा वा०
नस्थि घम्मे अहम्मे वा०
नस्थि बंधे व सुक्खे वा०
नस्थि पुत्रे व पावे वा०
नस्थि आसवे संवरे वा०
नस्थि वेयणा निज्जरा वा०
नस्थि किरिया अकिरि०
नस्थि कोद्वेव माणे वा०
नस्थि माया व लोभे वा०
नस्थि पेज्जे व दोसे वा०
नस्थि चाउरंते ससारे०
नस्थि देवा व देवी वा०
नस्थि सिद्धी असिद्धी वा०

पत्राक
१४१
४३
६३
११३
११३
१२८
१२८
११५
९७
१०७

थावरकायाओ विप्प०

द

देहाचुए कम्मवित्तिए०
दोसेइ वा पेसेइ भय०
दीसति समियाचारा०
दक्खिणवणाए पडिल्लभो०
दयावरं घम्म दुगुंछ०
दुहवो वि घम्मपि०

ध

घम्मं क्हंतस्स उ०

न

नो इणमट्टे समट्ठे०
नस्थि लोए अलोए वा०

पत्रांक
१०७
१०७
१०८
१०८
१०८
१०८
१०९
१०९
१०९
१०९
११०
११०
११०

नस्थि जीवा अजीवा वा०
नस्थि धम्मे अहम्मे वा०
नस्थि बधे व सुक्खे वा०
नस्थि पुत्रे व पावे वा०
नस्थि आसवे संवरे वा०
नस्थि वेयणा निज्जरा वा०
नस्थि किरिया अकिरि०
नस्थि कोहेव माणे वा०
नस्थि माया व लोभे वा०
नस्थि पेज्जे व दोसे वा०
नस्थि चाउरंते समारे०
नस्थि देवा व देवी वा०
नस्थि सिद्धी असिद्धी वा०

पत्रांक
१४१
४३
६३
११३
११३
१२८
१२८
११५
९७
१०७

मात्तवयातो विस्र०
द
देवानुए वन्धनिनिप०
देमेइ म पेमेइ म रं०
दीमनि म.मिगाताग०
रम्मिगलाए पडि म्भो०
रगार पम्म दुगुउ०
दुग्गो वि धम्मणि०
ध
धम्म - गान्ना उ०
न
नो उ.प.उ. मसंटे०
नदि म्भोए अन्धोए म०

म० च ण उ० स० नो खलु०
 म० न णं उ० स० मणुरसा०
 म० च ण उ० सं० भवंति आर०
 म० च ण उ० स० पाणा०
 म० च णं उ० स० पाणा भवंति०
 म० च णं उ० स० समणो०
 म० च ण उदा० ण एय भूयं०
 म० च ण उदा० आउसतो०
 म० च ण उदा० तते णं०

म

मह्या द्विमवंतमलय०
 महन्वए पच अणुव्वए०
 मेहात्रिणो सिक्खस्सि०

पत्ताक

१४६
 १४७
 १४८
 १४९
 १४९
 १५०
 १५२
 १५३
 १५३

७

११६
 ११९

ल

लोयं च खलु मए०
 लद्धे (हु) अठ्ठे अहो०
 लोयं अजाणितिह०
 लोयं विजाणतिह०

व

विअति तेसि परक्कमे०
 वित्तेसिणो मेहुप्पसंप०
 वायाभिओब्बेण जपाव०

स

सुयं मे आउसंतंणं०
 से जहानामए केइ०
 सवो णत्थि विणासो०

पत्ताक

६
 १२४
 १२९
 १३०

३१
 १२१
 १२४

१
 १०
 १५

से एगतिओ केणइ आदा०
 से एगतिओ केणइ आया०
 से एगइओ केणइ आदा०
 से एगइओ नो विति०
 से एगइओ णो० वि० गाहाव०
 से एगतिओ समण०
 से जहानामए केइ०
 से जहानामए (केइ) रुक्खे०
 से जहानामए अणगरा०
 से जहानामए समणो०
 सुयं से आउस० इ० ख० आहार०
 सुयं से आउसं० इ० ख० पच्चखा०
 से किं तं असिन्निदिदुंते०

से एगतिण गंठिन्हे०
 से एगतिण उरुभिय०
 से एगतिण सोगरिय०
 से एगउओ वागुरि०
 से एगइओ साउणि०
 से एगइओ मञ्जिय०
 से एगइओ गोघाय०
 से एगतिओ गोपाल०
 से एगतिओ सोवणि०
 से एगतिओ मोय० पडि०
 सतेगनिया मणुग्मा०
 से एगइओ केणवि०
 से एग० केण० आयाणेणं०

कोमला च ह्यम्बाम्, सिद्धमोभासना यमिण्या वा

॥

पचाद्विधौ वा भाव, पवित्राभासनाय संकाष्टाम् ।

वाचस्त्रोत्त व्यर्द्धिणी, मरिजा तस्त्रोत्ताराम् ॥

५

पुत्रस्य जन्मभारणे, मन्मथं सुशोभना भवत्वर्त्त ।

नरमा शकालि कदम्बे कौशल्याया काशौ ॥

नन् इच्छीमानि वै-पुच्छवर्षाया मन्त्रा ।

सिद्धकेशिन, सिद्धमार्गेण तथा भवेत् ॥

५

शौ च्छीने, मधुरागौ च्छुभवा समुद्रमन्त्र ।

पत्न्यं च्छीने, तनेनीत्यथान् भवत्वा ॥

सुप्तं पानिनाम् ? कस्या च्छुच्छिं वि नमस्तस्यो सुप्ता ५

५५५

५५५

५५५

५५५

५५५

को व न छस्त्रिन्त ? पुत्रवं, रामस्त्रीमा जव न सुत्तमा ॥

कुम्भान्चकवीनेषु, पुत्रमार्गं हि यथा मन्त्रिः ।

पुत्रैश्चयोगना सिद्ध्या, सिद्धमोक्षैर्गतिरन्वया ॥

केवलमार्गोद्वेचनस्य त्रयान्वयवृत्तौ हि योपनिं वसिष्ठ ।

सिद्धमार्गं यत्नं को माण्ड्रे ? कञ्चमात्वं च ॥

का-अश्वतोत्तराशौ, कश्चान् वीरौत मात्रिणा न मङ्ग ।

सन्वदथ महानि वसिष्ठाय, नैत युक्ता क्षण्यमार्ग ॥

कोशोच्यतयथाप्य मन्त्रोपसिद्धिमाण् यत्नमंत्तान् ।

अणुमत्तारसिद्धान्तं, शीघ्रं तत्तत्तं तद्वेण यथा ॥

चोदयन् कानं च्छे-साम्प्रदायानं तन्वे साम्प्रदायिकस्य ?

शोभना । सुप्तं यथासाम्प्रदायानं मन्त्रं तन्वे साम्प्रदा-

यित्ताराम, तन्वे पुत्रं चो-व्यवृत्तौ साम्प्रदायिके यत्नमा

यत्नमार्गो यत्नव्या यत्नमार्गो ॥

५५५

५५५

५५५

५५५

५५५

५५५

५५५

जो य पओगं जुंजइ, हिंसत्यं जो य अन्नभावेण ।
 अमणोय जो पंजइ, इत्थं विसोसो महं तुत्तो म
 जा जयमाणस्म भवे, विराहणा सुत्तविहिसमगस्स ।
 सा होइ निज्जरफला, अञ्जत्थविसोहियुत्तरस्स ॥
 जे अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुयाहि वासकोडीहिं ।
 तं नाणी तिहि गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥
 जिण पंचसु कल्लणएसु चैव महरिसितवाणुभावाओ ।
 जम्मंतरनेहेण य, आगच्छंति सुरा इहयं ॥
 त
 तरस्स असंचयओ सं-चयओ (य) जाइं सत्ताइं ।
 जोगं पत्थ विणस्सति, नत्थि हिंसाफलं तरस्स ॥
 तो बहुगुणनासाणं, सम्मत्तचरित्तगुणविणासाणं ।
 न हु वसमार्गंतव्वं, रागदोसाण पावाणं ॥

च

चचारि पंच जोगण सयाइं गंओ उ मणुयलोयस्स ।
 च; यच्चइ जेगं, न हु देवा तेण आविंति ॥

ज

जे जत्तिया य हेऊ, भवस्स ते चैव तत्तिया मोक्खे ।
 नगयाइंया लोगा, दोणइवि पुण्णा भवे तुल्ला ॥
 जइया होदी पुच्छा, जिणंइपासमि उत्तरं तइया ।
 इफन्न निगोयस्स, अणतभागो य सिद्धिगओ ॥
 जो य पमत्तो पुरिसो, तम्म य जोगं पडुच्च जे सत्ता ।
 चात्तिज्जने नियमा, तेसि सो हिंसओ होइ ॥
 जे पि न चात्तिज्जंती, नियमा तेसि पि हिंसओ होइ ।
 मावज्जो य पओगेण, सव्वभावेण सो जम्हा ॥

पूर्वसङ्गविनिर्माशा-तथा सिद्धिगतिः सृता ॥

मनोज्ञा सुरभिलन्वी, पुण्या परमसाधुरा ।

प्राग्भारा नाम वसुधा, लोकमूर्ध्नि व्यवस्थिता ॥

य

यथाऽवस्तिर्यगूर्ध्वं च, लोष्टवायवगिनिवीचयः ।

स्वभावतः प्रवर्तन्ते, तयोर्ध्वगतिरात्मनः ॥

र

रतो वा मूढो वा, जो पडंजइ पञ्जोगं । हिंसा त्ति

तस्य जायइ, तम्हा सो हिंसओ बुत्तो ॥

रागद्वेषौ त्रिनिर्जित्य, किमरण्ये करिष्यसि ? । अत्र

नो निर्जितावेतौ, किमरण्ये करिष्यसि ? ॥

राज्ञानं वृगुल्यमेव मनुते शक्तेऽपि नैवादरः, त्रितो-

प्रत्यय एव त्रिषेऽरिपन् प्रपञ्चः पुण्यपापयोः

द्विमिर्त्तं(दि) जगत्पर्व, सुखदुःखव्यवस्थया ॥

पूर्वप्रयोगतोऽनङ्ग-भावद्वन्द्वविमोक्षतः । स्वभाव-

परिणामश्च, सिद्धस्त्वोर्ध्वगतिर्भवेत् ॥

पत्रय महागुणागं, हवति सेवारिहा लहुगुणा वि ।

अत्यमिय दिगनादे, अहिंसतइ जगो पइवं पि ॥

व

त्रया लूनगिरा हरिर्दंशि सरक् व्यलुपशिनो हरः,

नृदयोऽप्युद्धितितोऽनलोऽप्यखिलमुक्त् सोमः कलङ्का-

दिन । स्वर्नायोऽपि त्रिसंस्थुलः ललु वपुः संस्यैरुपस्यैः

टा, नन्नागंरखलनाङ्गवन्ति विपदः प्रायः प्रभूणासपि ॥ ११८

म

सूत्रमनुनिर्माशा-गया इष्टाऽऽश्वलादुतः ।

पात्रैतरक्षणव्यञ्जनाः प्राप्नोति नो वेदना । संसारा-
स्तरचरुणीह लगते सं मुक्तस्त्रिगंया, संतोषास्वकोऽधुत
स्वव्याचिराशागास्तु रेन्द्रार्चिनः ॥

म

सब्वस्थ संज्ञां रा-जमाओ क्षणायतो र रित्त-रा ।
मुचइ बाहवायाओ, पुणो निगोषी न (न) या (?) निरई ॥
संभरणमि अणुं, कुम्ह नि मिण्हतदितयाणइइं,

आरररिदुतेण, त ये र हिं अणवणो ॥

ह

द्विप-वं युंता गुणं दोषो, म(ण)णचर इणो ।
रमाणो म अणसणो, नानिनिगच च निजेओ ॥

ध

अण नीत्वा म लोकात्, तेष सणये णित ।
अणानत्तणमय. परणोषी सणानना ॥

श्रष्टि-देवचन्द्र-लालभाई-जैनपुस्तकोद्धारि ग्रन्थाङ्क १०९ अनुसन्धान

ॐ नमः प्रवचनाय । ॐ नमोऽर्हते श्रीवर्द्धमानस्वामिने ।

परमसुविहितश्रीमत्स्वरतरगच्छविभूषणमहोपाध्यायश्रीमत्साधुरङ्गणिवर्यगुम्फितया दीपिकया समलङ्कृतं

सूयगडाङ्गसूत्रम् ।

तस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धात्मको द्वितीयो विभागस्तत्राद्यं पौण्डरीकाध्ययनं ।

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु पौंडरीए नामऽञ्जयणे, तस्स णं अयमट्ठे पन्नत्ते-से जहा नामए पुक्खरिणी सिया बहुउदगा बहुसेया बहुपुक्खला लच्छट्ठा पुंडरीकिणी पासादीया दरिसणिजा अभिख्वा पडिख्वा । तीसे णं पुक्खरिणीए तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं बह्वे पउमवरपुंडरीया बुइया । अणुपुविट्ठिया ऊसिया रुइला वणमंता गंधमंता रसमंता फासमंता पासादिया दरिसणिजा अभिख्वा पडिख्वा । तीसे णं पुक्खरिणीए बहुमञ्जदेसभागे

एगे महं पदमधरपुंडरीए बुझए, अणुपुविट्टिए उरिते रुझले वणमंते गंधमंते रसमंते फासमंते
 पारादीए जान पडिरुवे । राधावंतिं च णं तीसे य पुव्वहरिणीए तस्य तस्य तस्य तस्य तस्य तस्य तस्य तस्य तस्य तस्य तस्य
 पदमधरपुंडरिया बुझता, अणुपुविट्टिता जाव पडिरुवा । [राधावंतिं च णं तीसे णं पुव्वहरिणीए
 बहुमज्झदेराभाए एगे महं पदमधरपुंडरीए बुझए अणुपुविट्टिए जाव पडिरुवे (सू० १)] ॥

व्याख्या—श्रुतं मया आमुष्मता भगवतैवमाख्यातं, किमाख्यातं ? भगवता ' इह खलु गौचरी(ए)णं नाम उ-
 च्छाय(णे)णं ' इह-द्वितीयाङ्गे श्रुतस्फन्धे द्वितीये ' खलु ' गन्दो नामयालङ्कारे, ' पुण्डरीकेण ' भवलकगालेना-
 नोग्या भविष्यतीति कृत्वाऽस्याध्ययनस्य गौण्डरीक इति नाम कृतम् । तस्य चागमार्थः, णमिति चान्यालङ्कारे । ' अक्षयः '
 प्ररूपितः ' से जह 'ति तद्यथा ' नाम ' इति सम्भावने, पुष्करिणी ' स्नाद् ' गतेदेवम्भूता । तद्यथा—' महदका ' नहु-
 जला तथा ' बहुरोगा ' - ' बहुकर्त्तवा ' बहुपुनश्चला ' बहुसम्पूर्णा प्रचुरोदकश्रुताभूता ' लब्धार्थी ' यथार्थी, यथा नामना
 तथा स्वमावेन ' पुण्डरीकिणी ' धेतकमलसहिता-बहुधेतयवा ' पारसादीया ' निर्मलजलपूर्णचत्वात् ' दर्शनीया ' दर्शनयोग्या
 ' अगिरुपा ' [आधिपुष्येन सदाऽवस्थितानि] हंसचक्रवाक्यास्तादीनि जलान्तर्गतानि वा करिपकरादीनि यस्यां सा
 अगिरुगोति, तथा ' प्रतिरुपा ' स्वच्छस्वात्पर्यवध पतिनिम्नानि समपलभ्यन्ते । ' तीरे णं पुव्वहरिणीए ' तस्याथ पुव्वहरिण्या-

। " रीयन्ते-बन्धन्ते गसिञ्जारी योगा-कर्मणः, य [नद्व]रीस्यं या नद्वरेशा " इति कर्म० ।

स्तत्र तत्र देशे-एकैकप्रदेशे, नास्ति स प्रदेशः पुष्करिण्याः यत्र तानि पुण्डरीकाणि न सन्ति । तत्र तत्र देशे देशे बहूनि पद्मवरपुण्डरीकाणि ' बुद्ध्य 'ति उक्तानि-प्रतिपादितानि विद्यन्त इत्यर्थः । आनुपूर्व्या ' विशिष्टरचनया स्थितानि । तथोच्छ्रितानि-जलोपरि व्यवस्थितानि तथा ' रुचिराणि ' दीप्तिमन्ति तथा शोभनवर्णगन्धरसस्पर्शवन्ति । अभिरूपाणि इत्यादिपूर्ववत् । तस्याश्च पुष्करिण्याः सर्वतः पद्माघृतायाः (सर्वतः पद्मवेष्टितायाः) बहुमध्यदेशभागे एकं महत्पद्मवर-पुण्डरीकमुक्तमानुपूर्व्येण व्यवस्थितमुच्छ्रितं, रुचिरं वर्णगन्धरसस्पर्शोऽपेतं । अभिरूपं प्रतिकरूपं प्रासादीयं दर्शनीयं अतीव शोभायमानं पद्मवरपुण्डरीकं विद्यते ॥ १ ॥

अह पुरिसे पुरत्थिमाओ दिसाओ आगम्भ तं पुवखरिणीं, तीसे पुवखरिणीए तीरे ट्टिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपुंडरीयं, अणुपुविट्ठितं ऊसियं जाव पडिरूवं । तते णं से पुरिसे एवं वयासी-अहंमंसि पुरिसे खेयन्ने कुसले पंडिते वियत्ते-मेहावी अबाले मगत्थे मगगविकु मगगस्स गति-परक्कमन्नु, अहमेयं पउमवरपुंडरीयं उन्निक्खिवस्सामि ति कट्ठु इति बुच्चा से पुरिसे अभिक्कमेति तं पुवखरिणीं, जावं जावं च णं अभिक्कमेइ तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए, पहीणे तीरं,

+ यद्यपि ' वियत्ते ' इत्येतस्यैवार्थो ' व्यक्त ' इति लिखितस्तथापि मूले ' मेयन्ने ' इति पाठः सर्वास्वपि दीपिकाप्रतिषु ।

अपत्ते पउमवरपुंडरीयं, नो हवाए नो पाराए, अंतरा पुक्खरिणीए सेयंसि वि[नि]सन्ने, पढमे पुरिसजाए (सू० २) ॥

अथानन्तरमेवभृतपुष्करिण्याः पूर्वस्या दिशः कश्चिदेकः पुरुषः समागत्य तां पुष्करिणीं, तस्याश्च (पुष्करिण्याः) ' तीरे ' तटे स्थित्वा तदेतत् (पश्यति, ततस्तत्) पञ्च पूर्वोक्तविशेषणकलापोपेतं स पुरुषः, पूर्वदिग्भागव्यस्थित ' एवं ' वक्ष्यमाणनीत्या ' वदेत् ' ब्रूयात्- ' अहमंसि ' ति अहमस्मि पुरुषः, किम्भूतः ? (' खेदज्ञो ' मनोऽभिलषितकार्यकरणकाल-माविपरिश्रमज्ञः) ' कुशल ' शत्रु-निष्पुणः, तथा ' पण्डितः ' घर्मज्ञो देशकालक्षेत्रज्ञः । ' व्यक्तो ' बालमावाचिष्क्रान्तः-परिणतबुद्धिः ' मेधावी ' प्लवनोत्प्लवनयोरुपायज्ञः-तथा ' अवालो ' मध्यमवयाः षोडशवर्षोपरिवर्त्ती ' मार्गस्थः ' सद्भि-राचीर्णमार्गव्यवस्थितो मार्गज्ञस्तथा मार्गस्य या ' गति ' र्गमन वर्त्तते, तथा यत्पराक्रमणं-विवधितदेशगमनं, तज्जानातीति पराक्रमज्ञो, यदिवा ' पराक्रमः ' मामर्थ्यं तज्ज्ञोऽहमात्मज्ञ इत्यर्थः, तदेवभृतोऽहमेतत्पञ्चवरपुण्डरीकं पुष्करिणीमध्यदेशव्यव-स्थितमुत्क्षेप्यामि-निष्कासयिष्यामीति कृत्वेहागतः, इत्युबत्वाऽसौ पुरुषस्तां पुष्करिणीमभिमृखं क्रामे-तदभिमृखं गच्छेत् । याव[धाव]वासौ तदवतरणामिप्रायेणामिमृखं क्रामेत्ताव[ताव]च्च ' ण ' मिति वाक्यालङ्कारे, तस्याः पुष्करिण्या महत्यगाधे जले कर्दमे च मग्नः । तत्राऽऽकण्ठ निमग्नत्वादत्याऽकुलीभूतः ' प्रहीण ' स्तीरादात्मानं उद्धर्तुमसमर्थो विवधितपञ्चवरपुण्ड-

जावं जावं च णं अभि मेइ तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए पहीणे तीरं अपत्ते पउमवपुंडरीयं
 णो ह ए णो पाराए [अंतरा पुक्खरिणीए] सेयंसि वि[नि]सन्ने, दोच्चे पुरिसजाए (सू० ३) ॥

व्याख्या—अथ (अपरो द्वितीयः) कश्चित्पुरुषो दक्षिणदिग्भागादागत्य तां पुष्करिणीं, तस्याश्च पुष्करिण्यास्तीरे स्थित्वा
 तत्रस्थश्च पश्यति महदेकं पद्मवरपुण्डरीकमानुपूर्व्येण व्यवस्थितं प्रामादीयं यावत्प्रतिरूपं, ततस्तीरे व्यवस्थितः, तं च पूर्व-
 व्यवस्थितं चैकं पुरुषं पश्यति, किम्भूतं ? तीरात्परिभ्रष्टं अप्राप्त[पद्म]वरपुण्डरीकमुभयभ्रष्ट अन्तराल एवावमीदन्तं दृष्ट्वा द्वितीयः
 पुरुषस्तं प्राक्तनं पुरुषमेवं वदेत्—अहो ! योऽसौ कर्हमनिमग्नः पुरुषः सोऽखेदज्ञोऽकुशलोऽपण्डितोऽमेघावी बालो न मार्गमथो
 नो मार्गज्ञो नो मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञः, अकुशलत्वादिके कारणमाह—यद्यस्मादेष पुरुष एतत्कृतवान्, तद्यथा—अहं
 खेदज्ञः कुशल इत्यादि भणित्वा पद्मवरपुण्डरीकमुख्येऽस्यामीत्येवं प्रतिज्ञातवान् । न चैतत्पद्मवरपुण्डरीकमेवमुत्क्षेप्तव्यं,
 यथाऽनेनोत्क्षेप्तुमारब्धं, ततोऽहमेवास्योत्क्षेपणे कुशल इति दर्शयितुमाह—' अहमंसी 'त्यादि, अहं खेदज्ञः कुशलः
 पण्डितो मेघावी, अहमेतत्पद्मवरपुण्डरीकमुद्गरिष्यामि, इत्युक्त्वाऽमावपि द्वितीयः पुरुषः पुष्करिणीमभिमुखं व्रजेत्,
 तावताऽगधे पानीये कर्हमे च मग्नः तीराद्भ्रष्टो द्वितीयतीरं च न प्राप्तः, उभयभ्रष्टोऽभूत्, पद्ममपि नोद्देशे अन्तराल एव
 व्यवस्थितः, इत्यादि । एवं द्वितीयोऽपि पुरुषः ॥ ३ ॥

अहावरे तच्चे पुरिसजाए—अह पुरिसे पच्चत्थिमाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणीं, तीसे

पुक्खवरिणीए तीरे टिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपुंडरीयं अणुपुव्विट्ठिनं जाव पडिख्वं, ते तत्थ
 दोद्धि पुरिसंजाते पासति पहीणे तीरं अपत्ते पउगवरपुंडरीयं, णो हद्वाए णो पाराए जाव सेयंसि
 निसत्ते । तते णं से पुरिसे एयं वदासी—अहो ! णं इमे पुरिसा अखेयन्ना अकुसला अपंडिया अवि-
 गत्ता अमेहानी नाला णो मगत्था णो मगवित्तु णो मगस्स गत्तिपरक्कमन्नू । जन्नं एते पुरिसा
 एयं मत्ते—अम्हे एयं पउमवरपुंडरीयं उच्चिक्खिस्सामो, नो [य] खलु एयं पउगवरपुंडरीयं एयं
 उच्चियवेत्तं, जहा णं एए पुरिसा मत्ते, अहमंसि पुरिसे खेयन्ने कुसले पंडिए वियत्ते मेहावी अचाले
 मगत्थे मगवित्तु मगस्स गत्तिपरक्कमन्नू, अहमेयं पउगवरपुंडरीयं उच्चिक्खेस्सामि [सि कट्ठु] इति
 नुत्ता से पुरिसे अगिक्कमे तं पुक्खवरिणिं, जावं जावं च णं अभिक्कमे तावं तावं च णं महंते उदए
 महंते सेए जाव अंतग पुक्खवरिणीए सेयंसि वि[नि]रात्ते, तत्ते पुरिसज्जाए (सू० ४) ॥

षणाख्या—अथ तृतीयः पुरुषः पश्चिमदिग्धिवामादागत्य पुक्खरिण्यास्तीरे स्थित्वा त्रयसपुरुषद्वितयवत् पूर्वोक्तं वचन-
 ग्रन्थं कथयित्वा कण्ठोद्गाराय त्रविष्टः । कण्ठोद्गारसूत्राय एव कर्हणे गयः, इति तृतीयः पुरुषः ॥ ४ ॥

अथ चतुर्थः पुरुषः—

अहावरे चउत्थे पुरिसजाए—[अह पुरिसे] उत्तराओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणीं, तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति [तं महं] एगं पउमवरपुंडरीयं [अणुपुविट्ठियं] जाव पडिरूवं, ते तत्थ ति पुरिसजाते पासति पहीणे तीरं अपत्ते जाव सेयंसि वि[नि]सन्ने। तते णं से पुरिसे एवं वदासी—अहो!! णं इमे पुरिसा अखेयन्ना जाव णो मगस्स गतिपरक्कमन्नू, जन्नं एते पुरिसा एवं मन्ने—अम्हे एतं पउमवरपुंडरीयं उन्निक्खिस्सामो, णो[य] खलु एयं पउमवरपुंडरीयं[एवं] उन्निक्खेयवं, जहा णं एते पुरिसा मन्ने, अहमांसि पुरिसे खेयन्ने जाव मगस्स गतिपरकमन्नू, अहमेयं पउमवरपुंडरीयं उन्निक्खिस्सामि[त्ति कहु इति बुच्चा से पुरिसे तं पुक्खरिणीं आभिकमेइ, [जावं] जावं च णं अभिकमे तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए जाव वि[नि]सन्ने, चउत्थे पुरिसजाए ॥ (सू० ५)

न्याख्या—अथ चतुर्थः पुरुष उत्तराया दिशः समागत्य तत्पुरुषत्रिकं दृष्ट्वा तथैवोक्त्वा तथैव पचोद्दरणाय प्रविष्टः, पूर्वपु त्रिकवत् पदे निमग्नः, एवं चत्वारोऽपि पुरुषाश्चतुर्षु दिक्षु निमग्नाः ॥ ५ ॥

माप्रतं पञ्चमं पुरुषं तद्विलक्षणमधिकृत्याह—

अह भिक्खू ख्हे तीरट्ठी खेयन्ने जाव [गति] परक्कमन्नू अन्नतरीओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा आगम्म तं पुक्खरिणीं, तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपुंडरीयं जाव पडिरूवं, ते तत्थ चत्तारि पुरिसजाए पासति पहीणे तीरं अपत्ते [पउमवरपुंडरीयं नो हवाए नो पाराए] अंतरा पुक्खरिणीए जाव (?) सेयंसि वि[नि]सन्ने । तते णं से भिक्खू एवं वदासि—अहो !! णं इमे पुरिसा अखेयन्ना जाव नो मग्गस्स गतिपरक्कमन्नू, जन्नं एते पुरिसा एवं मन्ने—अम्हे [एयं] पउमवरपुंडरीयं उन्निक्खिस्सामो, णो[य] खलु एयं पउमवरपुंडरीयं एवं उन्निक्खेतवं, जहा णं एते पुरिसा [मन्ने] । अहमंसि भिक्खू ख्हे तीरट्ठी खेयन्ने जाव मग्गस्स गतिपरक्कमन्नू, अहमेयं पउमवरपुंडरीयं उन्निक्खिस्सामि ति कहु इति बुच्चा से भिक्खू णो अभिकमे तं पुक्खरिणीं, तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा सहं कुच्चा 'उप्पयाहि खलु भो पउमवरपुंडरीया ! उप्पयाहि' अह से उप्पतिते पउमवरपुंडरीए (सू० ६) ॥

निगंथा[य] निगंथीओ [य] वंदति नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी-किद्विते नाए सम-
 णाउसो !, अट्टं पुण से ण जाणामो । समणाउसो ! त्ति समणे भगवं महावीरे ते य बहवे निगंथे य
 निगंथीओ य आमंतेत्ता एवं वदासी-हंत समणाउसो ! ते आतिवखामि विभावेमि किद्वेमि
 पवेदेमि सअट्टं सहेउयं सनिमित्तं भुज्जो उवदंसेमि से बेमि (सू० ७) ॥

व्याख्या—‘ कीर्त्तिते ’ कथिते मयाऽस्मिन् ज्ञाते हे श्रमणा ! आयुष्मन्तोऽर्थः पुनरस्य ज्ञातव्यो भवति भवद्भिः । एतदुक्तं
 भवति—नास्योदाहरणस्य परमार्थं यूयं जानीथ, इत्येवमुक्ते भगवता ते बहवो निर्ग्रन्था निर्ग्रन्थश्च तं श्रमणं भगवन्तं महावीरं
 ते निर्ग्रन्थादयो वन्दन्ते (कायेन), नमस्यन्ति—स्तुवन्ति । वन्दित्वा [नमस्यत्वा] चैवं वक्ष्यमाणं वदेयुः—‘ कीर्त्तितमुदाहरणं
 भगवता, अर्थं पुनरस्य सम्यग्न जानीम, इत्येवं पृष्टो भगवान् श्रमणो महावीरस्तान्निर्ग्रन्थादीनेवं वदेत्—[हंते] ति सम्प्रेषणे,
 हे श्रमणा आयुष्मन्तो ! यद्भवद्भिरहं पृष्टस्तत्सोपपत्तिकमाख्यामि—भवतां [‘ विभावयामि ’] आविर्भावयामि— प्रकटार्थं
 करोमि ‘ कीर्त्तयामि ’ पर्यायकथनद्वारेण तथा ‘ पवेदेमि ’ चि प्रवेदयामि—प्रकर्षेण हेतुदृष्टान्तैश्चित्तसन्ततावारोपयामि । कथं
 प्रतिपादयामीति दर्शयति—सार्थं—पुष्करिणीदृष्टान्तं सहेतुकं प्रतिपादयिष्यामि, यथा ते पुरुषा अप्राप्तप्रार्थितार्थाः पुष्करिणीकर्ममे
 दुरुचारे निमग्ना एवं वक्ष्यमाणास्तीर्थिका अपारगाः संसारसागरस्य, तत्रैव निमज्जन्तीत्येवंरूपोऽर्थः सदृष्टान्तः प्रदर्शयिष्यते ।
 सनिमित्तं—सकारणं दृष्टान्तार्थं भूयो भूयोऽपरैरपरैर्हेतुदृष्टान्तैरुपदर्शयामि । सोऽहं साम्प्रतमेव ब्रवीमि, शृणुत यूयमिति ।

लोभं च खलु मए अप्पाहद्दु रामणाउसो ! सा पुव्ववरिणी बुइया । कम्मं च खलु मए
 अप्पाहद्दु रामणाउसो ! से उदए बुइए । कामभोगे च खलु मए अप्पाहद्दु रामणाउसो ! से
 सेए बुइए । जणजाणवयं च खलु मए अप्पाहद्दु रामणाउसो ! ते नहवे पत्तमवरपुंडरीया बुइता ।
 रामाणं च खलु मए अप्पाहद्दु रामणाउसो ! से एगे महं पत्तमवरपुंडरीए बुइए । अन्नउत्थिया
 च खलु मए अप्पाहद्दु रामणाउसो ! ते चत्तारि पुरिसाजाया बुइता । पम्मं च खलु मए अप्पा-
 हद्दु रामणाउसो ! [से] गितम्बू बुइए । पम्मतिरथं च खलु मए अप्पाहद्दु रामणाउसो ! से तीरे
 बुइए । पम्मकहं च खलु मए अप्पाहद्दु रामणाउसो ! से साहे बुइए । नित्ताणं च खलु मए
 अप्पाहद्दु रामणाउसो ! से उष्पाते बुइए । एवमेयं च खलु मए अप्पाहद्दु रामणाउसो ! से एव-
 मेयं बुइयं (सू० ८) ॥

व्याख्या—लोकमिति गुरुव्यक्षेपं, [च शब्दः, मयुच्चये] खलुरिति वाक्यालङ्कारे, मया लोको गनुव्याऽऽधारस्ता-
 तान्याहृत्य—व्यवस्थाप्य ' अपाहृत्य [चा ' आत्माना वा मयाऽऽहृत्य] च परोपदेशतः, सा पुष्करिणी पद्माधारभूतोक्ता ।
 तथा कर्ण चाष्टाकार, यद्वलेन पुरुषपुण्डरीकाणि भवन्ति, तदुत्कं दृष्टान्तत्वेन उपन्यस्तं । कागभोगाश्च मया कर्दभोऽभिहितः,

यथा महति पङ्के निमग्नो दुःखेनात्मानमुद्धरत्येवं विषयेष्वप्यामक्तो नात्मानमुद्धर्तुं मलमित्येतत् कर्हमविषययोः साम्यमिति ।
 'जनाः' मामान्यलोकाः 'जानपदा' विशिष्टार्यदेशोत्पन्नाः गृह्यन्ते, तौश्च समाश्रित्य-मया दार्ष्टान्तिकत्वेनाङ्गीकृत्य तानि
 बहूनि पद्मवरपुण्डरीकाणि दृष्टान्तत्वेनाभिहितानि । राजानमात्मन्याहृत्य तदेकं पद्मवरपुण्डरीकं दृष्टान्तत्वेनाभिहितम् । तथाऽन्य-
 तीर्थिकान् समाश्रित्य ते चत्वारः पुरुषजाता अभिहितास्तेषां राजपुण्डरीकोद्धारणसामर्थ्यवैकल्यात् । तथा घम्भं च खल्वा-
 त्मन्याहृत्य श्रमणायुष्मन् ! स भिक्षुः रूक्षवृत्तिरभिहितः, तस्यैव चक्रवर्त्यादिराजपद्मवरपुण्डरीकस्योद्धारणसामर्थ्यसद्भावात् ।
 घर्मतीर्थं च खल्वाश्रित्य मया तचीरमुक्तम् । तथा सद्धर्मदेशनां चाश्रित्य मया स भिक्षोः सम्बन्धी शब्दोऽभिहितः । तथा
 'निर्वाणं' मोक्षपदमशेषकर्मक्षयरूपमीषत्प्रागमाराख्यभूमागोपर्यवस्थितं क्षेत्रखण्डं चात्मन्याहृत्य स पद्मवरपुण्डरीकस्यो-
 त्पातोऽभिहितः । 'एवं' पूर्वोक्तप्रकारेण [ए]तल्लोकादिकं च खल्वात्मन्याहृत्य-आश्रित्य मया श्रमणायुष्मन् ! 'से'
 एतत्पुष्करिण्यादिकं दृष्टान्तत्वेन किञ्चित्साधर्म्यदिचमुक्तमिति ॥ ८ ॥ एतावता सामान्येन दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोजना कृता,
 अथ विशेषेण प्रधानभूतराजदार्ष्टान्तिकं तदुद्धारणार्थत्वात् सर्वप्रयासस्येति दर्शयितुमाह—

इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगतिया मणुस्सा भवंति । अणु-
 पुवेणं लो[गं]गतं (१) उववन्ना, तं जहा-आरिया वेगे अणारिया वेगे उच्चागोया वेगे उच्चागोया वेगे णीयागोया
 वेगे कायमंता वेगे [र]हस्समंता वेगे सुवण्णा वेगे दुवन्ना वेगे सुख्वा वेगे दुख्वा वेगे, तेसिं च

आओगप्पओगसंपउत्ते विच्छडितपउरभत्तपाणे बहुदासदासीगोमहिसगवेलगप्पभूए [पडिपुण-
कोसकोट्टुगाराउहागारे बलवं दुब्बल्लपच्चामित्ते ओहयकंटयं निहयकंटयं मलियकंटयं उच्चियकंटयं
अकंटयं ओहयसत्तू नि]हयसत्तू मलियसत्तू उच्चियसत्तू निजियसत्तू पराइयसत्तू ववगयडुब्भि-
क्खमारिभयविप्पमुक्कं, रायवणओ जहा उववाईए, जाव पसंतडिबडमरं रज्जं पसाहेमाणे
विहरति । तस्स णं रत्तो परिसा भवति ।

एतद्द्वाराख्यानं औपपातिकोपाङ्गात् ज्ञातव्यं, यावत्ते राजान उपशान्तडिम्बडमरं* ' रज्जं 'ति राज्यं प्रसाधयन्ति ।
तस्य चैवंविधगुणसम्पदुपेतस्य राज्ञ एवंविधा पर्षद्भवति ।

उग्गा उग्गपुत्ता, भोगा भोगपुत्ता, इक्खागा इक्खागपुत्ता, नाया नायपुत्ता, कोरवा कोरव-
पुत्ता, भदा भदपुत्ता, माहणा माहणपुत्ता, लेच्छई लेच्छइपुत्ता, पसत्थारो पसत्थारपुत्ता, सेणावई
सेणावईपुत्ता, तेसिं च णं एगतीए सद्धी भवति कामं, तं समणा वा माहणा वा संपहारिसु गमणाए ।

* " तत्र ' डिम्बः ' परानीकश्रृगालिको ' डमरं ' स्वराष्ट्रक्षोभः, पर्यायौ वैतावत्यादरख्यापनार्थमुपात्तौ । " इति बृ० ।

तस्य अ तरेणं धम्ममेणं पन्नत्तारो भवंति, वयं इमेणं धम्ममेणं पन्नवइस्सामो, से एवमायाणह भयंतारो जहा मए एस धम्ममे अक्खाए सुप चे भवति । तं जहा—

व्याख्या—उग्रा उग्रपुत्राः, एवं भोगपुत्रादयोऽपि द्रष्टव्याः, शेषं सुगमं, यावत्सेनापतिपुत्रा इति + । तेषां मध्ये कश्चि-
 देवैकः 'श्रद्धावान्' धर्मलिप्सुर्भवति । काममित्यवधृतार्थे । अवधृतमेतद्यथाऽयं धर्मश्रद्धालुः, अवधार्य च तं धम्म-
 लिप्सुतया श्रमणा ब्राह्मणा वा 'सम्प्रधारितवन्तः' समालोचितवन्तो धम्मप्रतिबोधनिमित्तं तदन्तिकगमनाय, तत्र चा-
 न्यतरेण धर्मेण स्वसमयप्रसिद्धेन प्रज्ञापयितारो वयमित्येवं सम्प्रधार्य राजान्तिकं गत्वा एवमूस्तद्यथा—एतद्यथाऽहं कथ-
 याम्येवमिति वक्ष्यमाणनीत्या 'भवन्तो' यूयं जानीत भयान्नातारो वा 'यथा' येन प्रकारेण मयैष धम्मः स्वाख्यातः
 सुप्रज्ञप्तो भवतीत्येवं तीर्थिकः स्वदर्शनानुरञ्जितोऽन्यस्यापि स्वाभिप्रायेण राजादेरुपदेशं ददाति । तत्राद्यपुरुषजातस्तज्जीव-
 तच्छरीरवादी राजानमुद्दिश्यैवं धर्मदेशनां चक्रे, तद्यथा—

उड्ढं पादतला अहे केसगमत्थया तिरियं तयपरियंते जीवे, एस आयपज्जंवे कसिणे, एस जीवे जीवति, एस मए णो जीवति, सरीरे धरमाणे धरति विणट्ठम्मि य णो धरति । एयंतं

+ नवरं—'लेच्छह'त्ति लिप्सुकः, स च वणिगादिस्तथा 'प्रशास्तारो' बुद्ध्युपजीविनो मन्त्रिपभृतयः । इति बृहद्भूतो ।

जीवितं भवति । आदहणाए परेहिं निज्जाति, अगणिज्झामिए सरीरे कवोतवण्णाणि अट्टीणि भवन्ति ।
व्याख्या— 'ऊर्ध्वं' उपरि पादतलादधश्च केशाग्रमस्तकाचिर्यक्त्वक्रपर्यन्तो जीव, एतावता यदेवैतच्छरीरं स एव
जीवो, नैतस्माच्छरीराद्व्यतिरिक्तः कश्चिदात्माख्यः पदार्थोऽस्तीति यदेतच्छरीरं स एवात्मा । [अयं काय एव] तस्यात्मनः
पर्ययः 'कृतस्नः' सम्पूर्णः 'पर्यायो'ऽवस्थाविशेषः, यावत्कालमिदं शरीरं जीवति तावत्कालं जीवोऽपि जीवति, शरीरे मृते
जीवोऽपि म्रियते । यावदिदं शरीरं पञ्चभूतात्मकं अव्ययं * धरति तावदेव जीवोऽपीति, तस्मिँश्च विनष्टे जीवस्यापि विनाशः ।
[तदेवं] यावदेतच्छरीरं वातपित्तश्लेष्माधारं पूर्वस्वभावादग्रच्युतं तावदेव जीवस्य तज्जीवितं भवति, तस्मिँश्च विनष्टे तदात्मा—
जीवोऽपि विनष्ट इति कृत्वा आदहनाय ऋमशानादौ नीयते, तस्मिँश्च शरीरे अग्निना ध्यामि[ष्मापि]ते कपोतवर्णान्यस्थीनि
केवलमप्लम्यन्ते, परमस्थिव्यतिरिक्तः कश्चिदात्माख्यः पदार्थो न दृश्यते, येन तदस्तित्वप्रतीतिरुपजायते, तथा—

आसन्दीपंचमा पुरिसा गामं पञ्चागच्छन्ति, एवं असन्ते असंविज्जमाणे, जेसिं तं असन्ते असं
विज्जमाणे तेसिं तं सुअक्खायं भवति—अन्नो भवति जीवो अन्नं सरीरं, तम्हा ते एवं नो विप्पडिवेदंति—

व्याख्या—तद्वबान्धवा जघन्यतोऽपि चत्वारः—'आसन्दी' मञ्चकः, स पञ्चमो येषां ते आसन्दीपञ्चमाः पुरुषास्तं कायं
अग्निना ध्यामयित्वा पुनः स्वं ग्रामं प्रत्यागच्छन्ति । यदि पुनस्तत्रात्मापि शरीराद्विभक्तः स्यात्ततः शरीराविर्गच्छन्

* अमङ्ग—मखण्ड ।

दृश्येत, न च दृश्यते, तस्माच्चञ्जीवतच्छरीरमिति स्थितम् । तदेवं येषां मते-असौ जीवोऽसत्-अविद्यमानः, तत्र तिष्ठन् गच्छन् नोपलभ्यते, येषामयं पक्षस्तेषां तत्स्वाख्यातं भवति, येषां पुनरन्यो जीवोऽन्यच्छरीरं तद्गृथा, ते तु अन्धरूढया प्रवर्तमाना एवमिति वक्ष्यमाणं नैव विप्रतिवेदयन्ति-न जानन्ति, तदेवाह-यद्ययमात्मा शरीरान्निवस्तर्हि किं स्वरूपः ? कियत्प्रमाणो वा ? तद्यथा—

अयमाउसो ! आता दीहेति वा हस्सेति वा परिमंडलेति वा वद्वेति वा तंसेति वा चउरंसेति वा आयतेति वा छलंसिएति वा अटुंसेति वा । किणहेति वा नीलेति वा लोहिएति वा हालिद्देति वा िलेति वा । सुब्भिगंधेइ वा दुब्भिगंधेइ वा । तिचेइ वा कडुएति वा कसाइएति वा अंबिलेति वा महुरेति वा लवणेति वा । कक्खडेति वा मउएति वा गुरुएति वा लहुएति वा सीएति वा उसिणेति वा निद्धेति वा लुक्खेति वा ? । एवं असए असंविज्जामाणे जेसिं तं सुअ-व ायं भ ते-अन्नो जीवो अन्नं सरीरं, तम्हा ते नो एवं उवलब्भंति ।

व्याख्या—(आयुष्मन् !) यद्ययमात्मा शरीरान्निवस्तर्हि किं दीर्घो वा ह्रस्वो वाऽस्ति ? तथा अयमात्मा कियत्प्रमाणो दीर्घो ह्रस्वो वाऽ यामाकतन्दूलपरिमाणो वा, ? किं परिमण्डलः ? किं वा वृत्तः ? त्र्यस्रः ? चतुरस्रः ? षडंशो वा (अष्टांशो

वा ?) । तथा वर्णतः किं किंहेति वा नीलेति वा लोहिएति वा हालिहेति वा सुकिलेति वा । तथा गन्धतः किं सुन्मिगंधेह वा दुग्मिगंधेह वा । तथा रसतः किं तिचेह वा कडुएति वा कसाइएति वा अंबिलेह वा मडुरेह वा लवणेह वा । (तथा स्पर्शतः) किं ककखडेति वा मउएति वा गरुएति वा लहुएति वा सीएति वा उसिणेति वा निद्धेह वा लुक्खेह वा । एवं असंविज्जमाणे जेसिं तं सुअकखायं भवति-अन्नो जीवो अन्नं शरीरं, तम्हा ते नो एवं उवलब्भंति । इत्यादि-सर्वं सुगमम् । अतो येषां मते केनापि प्रकारेणासंवेद्यमानः-शरीरादपृथग्भूत आत्मा तेषां तत्स्वाख्यातं भवति, यथाऽन्यो जीव अन्यच्छरीरमित्येवं ये प्रतिपादयन्ति ते नात्मानमप्युपलभन्ते-ते नात्मस्वरूपवेत्तारः, ये तु शरीरात्पृथग्भूतो जीवाख्यः पदार्थ इति स्वप्न्येषु निश्चितवन्तस्तद्वृथा, कथं ? यथा—

से जहा नामए केइ पुरिसे केइ पुरिसे कोसीओ असिं अभिनिव्वट्ठिचाणं उवदंसेज्जा-अयमाउसो ! असी अयं कोसी, एवामेव णत्थि केइ पुरिसे अभिनिव्वट्ठिचाणं उवदंसेत्तारो-अयमाउसो ! आया इमं सरीरं । से जहा नामए केइ पुरिसे मुंजाओ इसियं अभिनिव्वट्ठिचाणं उवदंसेति-अयमाउसो ! मुंजा इयं इसिया, एवामेव नत्थि केइ पुरिसे उदंसेत्तारो-अयमाउसो ! आया इदं सरीरं । से जहा नाम केइ पुरिसे मंसाओ अट्ठिं अभिनिव्वट्ठिचाणं उवदंसेज्जा-अयमाउसो ! मंसे अयं अट्ठो,

एवामेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो-अयमाउसो ! आया इदं सरिं । से जहा नामए केइ
 पुरिसे करत ओ आमलकं अभिनिव्हित्ताणं उवदंसेज्जा-अयमाउसो ! करतले अयं आमलए,
 एवामेव णत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो-अयमाउसो ! आया इदं सरिं । से जहा नामए केइ
 पुरिसे दहीओ नवनीयं अभिनिव्हित्ताणं उवदंसेज्जा-अयमाउसो ! नवनीयं अयं तु दही, एवामेव
 नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो-अयमाउसो ! आया इदं सरिं । से जहा नामए केइ पुरिसे
 तिलेहितो ते अभिनिव्हित्ताणं उवदंसेज्जा-अयमाउसो ! तिले अयं पिन्नाए, एवामेव नत्थि
 केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो-अयमाउसो ! आया इदं सरिं । से जहा नामए केइ पुरिसे इक्खूतो
 तेतरसं भिनिव्हित्ताणं उवदंसेज्जा-अयमाउसो ! खोतरसे अयं छोए, एवामेव नत्थि केइ
 पुरिसे उवदंसेत्तारो-अयमाउसो ! आया इदं सरिं । से जहा नामए केइ पुरिसे अरणीता
 णं भिनिव्हित्ताणं उवदंसेज्जा-अयमाउसो ! अरणी अयमग्गी, एवामेव नत्थि केइ पुरिसे
 उवदंसेत्तारो-अयमाउसो ! आया इदं सरिं ।

सुअस्वायं हवइ, तं जहा-अन्नो जीवो अन्नं सरीरं, तम्हा तं मिच्छा । से हंता, तं हणह खणह छणह डहह पयह लुंपह आलुंपह विलुंपह सहसकारेह विपरासुसह । एतावता × णत्थि जीवे, णत्थि परलोए, ते णो एवं विप्पडिवेदंति, तं जहा—

व्याख्या—यथा नाम कश्चित्पुरुषः 'कोशतः' परिवारा + दसिं-खङ्गमभिनिर्वृत्त्यर्थं-समाकृत्यान्येषामुपदर्शयेत्, यथाऽयमायुष्मन् ! 'असिः' खङ्गः अयं च 'कोशः' परिवारः, एवमेव जीवशरीरयोरेपि नास्त्युपदर्शयिता, तद्यथा-अयं जीव इदं च शरीरमिति । न चास्त्येवमुपदर्शयिता कश्चिदतो न शरीराङ्घ्रिन्नो जीव इति । अस्मिंश्चार्थे * बहवो दृष्टान्ताः सन्तीत्य-तो दर्शयितुमाह, तद्यथा-कश्चित्पुरुषो 'मुञ्जा'चृणविशेषात् 'इसियं' ति तद्गर्भभूतां शिलिकां पृथक्कृत्य दर्शयेत् । तथा माँसादस्थि, करतलादामलकं, तथा दध्नो नवनीतं, तिलेभ्यस्तैलं, तथेक्षो रसं, तथाऽरणितोऽग्निं 'अभिनिर्वृत्त्यर्थं' पृथक्कृत्य दर्शयेत्, एवमेव शरीरादपि जीवमिति । न चास्त्येवमुपदर्शयिता, तस्मात्तन्मिथ्या यत्कैश्चिदुच्यते-यथाऽस्त्यात्मा परलो-कानुयायीति । एवं चार्वाकस्तज्जीवतच्छरीरादी शरीरादपृथग्भूतमेवात्मानं मन्यमानः आत्माऽभावप्रतिपादको नास्तिकः प्राणातिपातदोषमविन्दन् प्राणिनामेकेन्द्रियादीनां 'हन्ता' व्यापादको भवति । प्राणातिपाते दोषाभावमभ्युपगम्यान्येषा-

× 'णत्थि'त्ति शब्दो नास्त्यत्र बृहद्बृत्त्यन्वितासु सर्वास्वपि मुद्रितप्रतिषु, परमस्यखिलास्वपि दीपिकाप्रतिषु मूलेऽतोत्र रक्षितः ।

+ प्रत्याकारात् 'म्यान' इति लोके । * 'अस्मिन्' जीवनास्तिप्ररूपणार्थे ।

मपि प्राण्युपघातकारिणामुपदेशं ददाति, तद्यथा—प्राणिनः खड्गादिना घातयत पृथिव्यादिकं खनतेत्यादि युगमम् । यान-
 देतावानेव-शरीरमात्र एव जीवस्ततः परलोकिनोऽभावात्नास्ति परलोकस्तदभावाच्च यथेष्टमासत खादत पिबत युलगनुभात
 दहत पचत, अत्र दोषो नास्ति, जीवस्याभावाच्च परलोको नापि पुण्य न पाप, इत्येवं लोकायतिकास्तज्जीवतच्छरीरवादिनो
 नैवैतद्वक्ष्यमाणं विप्रतिवेदयन्ति-नाभ्युपगच्छन्ति । तद्यथा—

किरियाइ वा अकिरियाइ वा, सुकडेइ वा दुक्कडेइ वा, कछ्छाणएति वा पावएति वा, साहूति
 वा असाहूति वा, सिच्छीति वा असिच्छीति वा, निरएति वा अनिरएति वा । एवं ते विरूवरूवेहिं
 कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारंभंति भोयणाए ।

व्याख्या—ये एवं मन्यन्ते-नास्ति जीवो नास्ति परलोकस्ते नैवं विप्रतिवेदयन्ति-नाभ्युपगच्छन्ति । हिं नाभ्युपग-
 च्छन्ति ? 'क्रियां' सदनुष्ठानात्मिकां 'अक्रियां' असदनुष्ठानरूपां, एवं नैव ते विप्रतिवेदयन्ति । कुतः ? यथात्मा क्रियायां-
 स्तर्हि कर्मबन्धः, क्रियया शुभं कर्म बध्यते अक्रियया त्वशुभं, ततश्च कोऽपि भोक्ता स्यात् । स तु परलोकगामी जीव एव, स
 तु मूलतोऽपि निराकृत एव, ततश्च कः कर्म बध्नाति ? कश्च कर्मफलमनुभंगति ? जीनाऽभावात्, अतः सत्क्रियादिचिन्ता दूरो-
 त्सादितैव, अतः क्रियामक्रियां च न मन्यन्ते । तथा सुकृतं वा दुष्कृतं वा, कल्याणमिति पापमिति वा, साधुकृतमसाधुकृत-
 मित्यादिका चिन्तैव नास्ति । तथाहि—'सुकृतानां' कल्याणविपाकिनां साधुतयाऽऽस्थानं 'दुष्कृतानां' पापविपाकिनां

अमाधुत्वेनावस्थानं, एतदुभयमपि मत्यात्मनि तत्फलश्रुति सम्भवति, तदभावाच्च कुतोऽनर्थकौ हिताहितप्राप्तिपरिहारो स्यातां ? । तथा अशेषकर्मक्षयरूपां सिद्धिमपि नाऽभ्युपगच्छन्ति, आत्मामावात् । तथा दुष्कृतेन-पापानुबन्धिनः असाध्वनुष्ठानेन नरकोऽनरको वा तिर्यगरामरगतिलक्षणः स्यादित्येवमादिका चिन्तैव न भवेत्, तदाधारस्यात्मसद्भावस्या- नभ्युपगमादिति भावः । एवं [ते] नास्तिका आत्मामावं प्रतिपाद्य विरूपरूपैः पशुघातमांसमक्षणसुरापाननिर्लाञ्छनादिभिः कर्मसमारम्भैः सावधानुष्ठानैः कृषीबलानुष्ठानादिभिर्विद्विरूपान् कामभोगान् समाददति तदुपभोगार्थमिति ।

साम्प्रतं तज्जीवत्च्छरीरवादिमतमुपसंहरन्नाह—

एवं षगे पागन्धिता णिक्खम्म मामगं धम्मं पन्नविति, तं सहहमाणा तं पत्तियमाणा तं रोएमाणा साहु सुअक्खाए, समणेत्ति वा माहणेत्ति वा कामं खलु आउसो ! तुमं पूययामि, तं जहा-असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा वत्थेण वा पडिग्हेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा, तत्थेगे पूयणाए समाउट्टिसु, तत्थेगे पूयणाए निकाइंसु ।

व्याख्या—[‘एवं’ उक्त प्रकारेण] ‘एके’ केचन नास्तिकाः धृष्टाः सन्त एवं वदन्ति-अयमात्मा शरीरादपृथग्भूतोऽस्ति, एतावता शरीरे मृते जीवोऽपि त्रियते, न परं शरीरात्पृथग्भावं मज्जते । स एव जीवस्तदेव शरीरं, न शरीरात्पृथग्मात्मा, इत्येवं

दानं-परिग्रहं रवीकुर्वन्तं समनुजानन्ति, एतमेव पूर्वोक्तप्रकारेण स्त्रीमन्त्रनिष्पन्नं कामभोगेषु मूर्च्छिताः ' मृदाः ' काङ्गापान्तो ' ग्रथिताः ' अवबद्धाः ' अभ्युपपन्ना ' लुब्धाः रागद्वेषवशायाः कामभोगान्धा वा, ते एवं कामभोगेनननाः मन्तो जात्यानं संसारार्त्कर्मपाशाद्वा मगुच्छेदयन्ति, नापि पर मद्गुपदेशदानतः कर्मपाशानपाशितं मगुच्छेदयन्ति-कर्मगन्तान्त्रोदयन्ति, नाप्यन्यान् प्राणान् भूतान् जीवान् सखान् समुच्छेदयन्ति । ते चैवंनिधास्तञ्जीवतच्छरीरादिनो लोकायतिक्ताः ' पूर्व-संयोगा 'त्पुत्रदारादिकात् ' प्रहीणाः ' प्रथयाः, आर्यमार्गमगम्यायाः, ऐहिकाऽऽग्निमकलोकद्वयात् प्रथयाः, अन्तराल एव भोगेषु विषण्णास्तिष्ठन्ति, न निवक्षितं पुण्डरीकोत्क्षेपणादिकं कार्यं प्रगाभयन्ति । इत्थयं च प्रथमपुरुषस्तञ्जीवतच्छरीर-वादी परिसमाप्त इति । इति प्रथमः पुरुषः । अथ द्वितीयपुरुषजातमधिकृत्याऽऽह—

अहावरे दोञ्चे पुरिसजाए पंच महब्भूतिएत्ति आहिज्जति, इह खलु पाईणं वा दाहिणं वा दाहिणं वा पडीणं वा उत्तरं वा संतेगतिया मणुस्सा भवंति अणुपुषेणं लोयं उववन्ना, तंजहा-आरिया वेगे अणारिया वेगे एवं जाव दुख्खा वेगे, तेसिं च णं महं एगे राया भवति [महया०] एवं चेच निरवसेसं जाव सेणावतिपुत्ता, तेसिं च णं एगतिए सद्धी भवति । कामं तं समणा य माहणा य पहारिंसु गमणाए । तत्थऽन्नथरेणं धम्मेणं पन्नत्तारो वयमिमेणं धम्मेणं पन्नवइस्सामो, से एवमायाणह भयंतारो ! जहा मए एस धम्मे सुअवखाए सुपन्नत्ते भवति ।

व्याख्या—इह खलु द्वितीयः पुरुषजातः पञ्चमिः [भूतैः] पृथिव्यन्तेजोवाय्वाकाशैश्वरति पञ्चभूतिकः, स च सौख्य-
मताग्लम्भी । स प्रथमपुरुषवद्वावद्राजममामगत्य स्वीयं धर्मं यथा प्रकाशयति तथा [दर्शयितुमा] इ—

इह खलु पंच महब्भूता, जेहिं नो किज्जति किरियाति वा अकिरियाति वा, सुकडेति वा दुक्कडेति
वा, कट्छाणएति वा पावएति वा, साहूति वा असाहूति वा, सिद्धिंति वा असिद्धिंति वा, निरएति वा
अनिरएति वा, इति [अवि] अंतसो तणमातमवि । तं पिहुद्देसेणं पुढो भूतसमवातं जाणेज्जा, तंजहा—

व्याख्या—‘ इह ’ द्वितीयपुरुषवक्तव्याधिकारे, खलु शब्दो वाक्यालङ्कारे, पृथिव्यादीनि पञ्च महाभूतानि विद्यन्ते ।
तेषां च सर्वव्यापितया अभ्युपगमान्महत्त्वं, पञ्चैव, परस्य पृष्ठस्य क्रियाकर्तृत्वेनानभ्युपगमात् । पञ्च भूतानि कार्यकारीणि,
न कोऽपि पृष्ठः पदार्थोऽस्ति । साहूत्यानां हि मते पंच महाभूतान्येव सर्वक्रियाकारीणि, न कोऽपि पृष्ठः आत्माख्यः पदार्थः,
स तु किमपि न करोति, यतस्तन्मतं—“ अमूर्तश्चेतनो भोगी, नित्यः सर्वगतोऽक्रियः । अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म,
आत्मा कापिलदर्शने ॥ १५ ॥ ” साहूत्या एवं वदन्ति—पञ्चभूतैरभ्युपगम्यमानैर्नो—ऽस्माकं ‘ क्रिया ’ परिस्पन्दात्मिका
त्रैष्टारूपा [अक्रिया वा—निर्व्यापारतया स्थितिरूपा] क्रियते, तथाहि—सौख्यानां दर्शनं मत्स्वरजस्तमोरूपा प्रकृतिः सर्वा
अर्थक्रियाः करोति, पुरुषः केवलमुपयुक्ते, तस्याश्च प्रकृतेर्भूतात्मिकायाः सत्स्वरजस्तमसां चयापचयाभ्यां क्रियाऽक्रिये स्याता-
मिति कृत्वा भूतैर्मय एव क्रियादीनि प्रवर्तन्ते, भूतव्यतिरेकेणापरस्याभावादिति भावः । तथा सुकृतं सत्स्वगुणाधिक्येन भवति

तथा चरेण अनिर्माणमित्युक्तानि, तथाऽऽकृतानि—न केनचित्तानि किञ्चन, अर्धेन्द्रपरःसर्लक्षिभ्रमणपरिभागेन निष्पन्नत्वात् ।
 तथा न पदरक्तनिर्माणं, कार्यकरणक्यापारसाभ्यानि न भवन्तीत्यर्थं, तथा परक्यापारसावतसा ' नो ' नैव कृतकानि, न
 अपेक्षितपरक्यापारसक्यापानानि, निष्पन्नपरिभागेन निष्पन्नत्वात्कृतकक्यापदेवमात्रं न भवन्ति । तथा अनाद्यनिर्माणानि, अन्ध-
 र्भ्यानि—प्राच्यकार्यकारिणि, तथा न विद्यते ' पुरोहितः ' कार्यं प्रति पत्तयति येषां साध्यपुरोहितानि, तथा ' स्वतन्त्राणि '—
 स्वामीनानि, तथा ' आभयानि ' नित्यानि, तदेवभूतानि पक्ष महाभूतान्यात्म्यानि ज्ञातव्यानि । एके प्र-नरेणमाह—

सतो षष्टि यिमासो अरातो षष्टि संभयो । पृताभतान जीमकाम्, पृताभतान अश्लिरकाम्,
 पृताभतान सभल्लोप, पतं सुषं लोभस्त करणयाम् । अणि अंतरसो तणसाभयमणि ।

व्याख्या—तथा सौख्यायिभागेण ' सतो ' विद्यमानस्य पना-भवेर्नस्ति निरावात्तथा ' अरातः ' अप्रविभागादेर्नणि
 ' सभया ' समुत्पन्निरस्ति, अतः सौख्या आत्मानः कार्यकारिणं न मन्यन्ते । यत्तस्या विद्यमानः कर्ता श्मयतोऽनुत्पत्त्या-
 दयति, यत् यत्तया प्रकृतौ निर्गुण इति । अतः सौख्या पतं तद्वन्ति पृताभनेन जीमकानो, भूत-पक्ष महाभूतानि, तथा
 पृताभनेन—भूतास्तित्वायाम् पृतास्तित्वायाम्, नागरः कश्चित्तीर्णिकाभिधेयः पदार्थोऽस्ति । पृताभनेन सभल्लोकः, पक्ष महाभूतानि
 लोकनिष्पत्तौ ' मळानि ' प्रपानकारणाद्येताभ्येव आनीति । भूतान्येवान्ततस्थानमाभयनि कार्यं कर्षन्ति, पक्ष महाभूतैश्च
 परस्य करणात्प्रभावयति । अथ स चैवंवाद्येकभास्यतोऽर्कचित्कस्त्वयाद्यन्तम भास्यतोऽस्यस्यमायसद्वन्मात्रेण चारया पापकार्य-

एवं तेऽनार्या अनार्यकर्मकारित्वाद्विरुद्धं मार्गं विप्रतिपन्नाः ' तं सदहमाणा ' तमात्मीयमेव कुमतं पञ्च महाभूतात्मकं श्रद्धावानास्तमेव च सत्यमित्येवं ' प्रतीयन्तः ' प्रतिपद्यमानास्तमेव स्वपक्षं रोचयन्तस्तद्धर्मस्याऽऽख्यातारं प्रशंसयन्तः ' स्वाख्यातो धर्मो भवता, अस्माकमयं धर्मोऽत्यन्तमभिप्रेतः, सावद्यानुष्ठानेनाप्यधर्मो न भवतीत्यध्यवसायिनः स्त्रीकामेषु मूर्च्छिताः, इत्येवं पूर्ववन्नेयं, यावदन्तरे काममोगेषु विषण्णाः ऐहिकामुष्मिकोभयकार्यभ्रष्टाः नात्म[नः]त्राणाय नापि परेषामिति। एवं द्वितीयः पुरुषजातः पञ्च महाभूताभ्युपगमिको व्याख्यात इति, साम्प्रतं तृतीयपुरुषं ईश्वरकारणिकमधिकृत्याऽऽह—

अहावरे तच्चे पुरिसजाए ईसरकारणिएत्ति आहिज्जति, इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया मणुस्सा भवंति अणुपुवेणं लोयं. उववन्ना, तंजहा—आरिया वेगे, जाव तेसिं च णं महंते एगे राया भवति जाव सेणावतिपुत्ता, एत्तेसिं च णं एगतीए सङ्गी भवति । कामं तं समणा य माहणा य पहारिंसु गमणाए जाव जहा मए एस धम्ममे सुअक्खाए सुपन्नत्ते भवति ।

व्याख्या—तदेवमीश्वरकारणिक आत्माद्वैतवादी वा तृतीयः पुरुषजात आख्यायते । इह खलु पुरुषप्रस्तावे, खलु शब्दो वाक्यालङ्कारे, ग्राच्यादिषु दिक्ष्वन्यतरस्यां दिशि व्यवस्थितः कश्चिदेवं ब्रूयात्, तद्यथा—राजानमुद्दिश्य तावद्यावत्स्वाख्यातः सुप्रज्ञसो धर्मो भवति इत्यादि सर्वं पूर्ववदवगन्तव्यं । अथ य ईश्वरप्रणीतं जगदिदं मन्यते स कस्यापि राज्ञः समीपमागत्य आत्माभिप्रेतं च

इहं अत्यं धर्म्या परिरात्रिणा परिरात्रया परिरात्रय्या परिरात्र्योत्तित्वा
परिरात्रिरात्रागत्वा परिरात्रेण परिरात्र्यं चिद्वृत्ति ।

व्याख्या ' धर्म ' रंशारे, अस्मिन्ति वाच्यमन्त्रार्थे, धर्मो अचेतनान्येन-रस्यो पदार्थो प्रकाशिका, प्रकाशेण
ज्ञात्वा न कारणापादिभूतं न प्रकाशिका धैर्यकारिणी वा, तथा प्रकाशजया, तथा प्रकाशमूर्तिता, तथा
प्रकाशमूर्तता ' प्रकाशमूर्तिता ' प्रकाशकारिता, अर्द्धव्याप्तिरामोदित्तुभूषण प्रकाशो पदार्थो पदार्थन्ते तथा
संश्लेषेण पदार्थो प्रकाश धैर्येण प्रकाशिता, ते च धर्मो जीवात् अन्तःकरणव्यापित्तुमन्त्रकारणव्यापित्तु-मन्त्रिका
अजीवधर्मित्तु भूषणत्वं तन्वात्तं रंशोम-धरत्तुभूषणो, यन्मन्त्रत्वं च धर्मोपार्थक्यता-त्वं मन्त्रादिका धर्मो, यत्तुभूषण
कता । रंशरेण प्रकाशेवागम्यन्तु वास्ति । यन्मन्त्रत्वं मन्त्रत्वात्तम्

रे अन्तःकरणम् वाहे त्रिणा रशरे आते रशरे रंशरे रशरे अन्तःकरणान्ते रशिरंशे
मन्त्रिभूषं चिद्वृत्ति, पदार्थेण धर्म्या परिरात्रिणा, अन्तःकरणं चिद्वृत्त ।

व्याख्या ' रे ' ति तच्छब्दार्थे । ' त्रिणा ' ति त्रिणा रशरे । अन्तःकरणान्ते रशिरंशे ।
अन्तःकरणे मन्त्रिभूषं मन्त्रिभूषं

यथा वत्पिप्लवकं शरीरैर्कदेशभूतं न युक्तिशतेनापि शरीरात्पृथग्दर्शयितुं शक्यते, एवमेव ये धर्माश्चितनाचितनरूपास्ते सर्वेऽपीश्वरकर्तृकाः, न ते ईश्वरात्पृथक्कर्तुं पार्यन्ते । पुनर्दृष्टान्तान्तरमाह—

से जहानामए अरई सिया सरीरे जाया सरीरे (अभि×)संबुह्हा सरीरे अभिसमन्नागया सरीरमेव अभिभूय चिट्ठइ, एवामेव धम्मा[वि] पुरिसाइया जाव पुरिसमेवाभिभूय चिट्ठति ।

व्याख्या—तद्यथा नाम 'अरति'श्चित्तोद्देशगलक्षणा'स्याद्' भवेत्, सा च शरीरे जातेत्यादि गण्डवन्नेया, दाष्टान्तिकेऽप्येवमेव सर्वे धर्माः पुरुषप्रभवा इत्यादि पूर्ववन्नेयम् । पुनर्दृष्टान्तमाह—

से जहानामए वस्मिए सिया पुढविजाए पुढविसंबुह्हे पुढविअभिसमन्नागए पुढविमेव अभिभूय चिट्ठइ, एवामेव धम्मा[वि] पुरिसाइया जाव [पुरिसमेव] अभिभूय चिट्ठति ।

व्याख्या—यथा 'बल्मीकं' पृथ्वीविकाररूपं स्यात्तच्च पृथिव्यां जातं पृथिवीसम्बद्धम् पृथिव्यभिसमन्वागतं, पृथिवीमेवाऽभिसम्भूय तिष्ठति, एवमेव यदेतच्चेतनाचितनरूपं तत्सर्वमीश्वरकारणिकमात्मवित्तैरूपं वा, नात्मनः पृथग्भवितुमर्हति । पृथिव्या बल्मीकवत् । तथा—

× दृढहत्यादशेषु नास्त्ययं शब्दः ।

से जहानामए रुक् सिं सिया पुढविजाए जाव पुढविसंबुद्धे पुढविअभिसमन्नागए पुढविमेव अभिभूय चिट्ठइ, एवामेव धम्मा वि [पुरिसादिया] जाव [पुरिसमेव] अभिभूय चिट्ठति । से जहानामए पुक्खरिणी सिया* पुढविजाता जाव पुढविमेव अभिभूय चिट्ठति, एवामेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठति, से जहानामए उदगपुक्खले सिया उदगजाए [जाव] उदगमेव अभिभूय चिट्ठति, एवामेव धम्मा [वि] पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठति । से जहानामए उदगबुब्बुए सिया [उदगजाए जाव] उदगमेव (जाव×) अभिभूय चिट्ठइ, एवामेव धम्मा वि पुरिसा [दिया] जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठति ।

व्याख्या—एतत्सर्वं सुगमं, पूर्ववन्नेतव्याः सर्वेऽपि दृष्टान्ताः । एतावता यदीश्वरकृतत्वेनाभ्युपगम्यते तत्सर्वं तथ्यं,

* “ यथा नाम पुष्करिणीस्यात्-तडागरूपा भवेत् ” इति वृहद्बृत्तो । × नास्त्यय शब्दोऽत्र वृहद्बृत्त्यादर्शेषु ।

+ केवलं हाळापुरीयप्रतिकृतावस्य सूत्रस्य व्याख्या ‘ से ’ (तद्) यथा नाम ‘ उदकपुष्कलं ’ प्रचुरपानीयं-उदकग्राचुर्यं तच्च ‘ तद्दर्भस्यात् ’ तत्स्वभायत्वाद्दुदकमेवाभिभूय तिष्ठति, एवं दाष्टीन्तिकेऽपि ” एवम्भूता स्थानान्तरे लिगिताऽस्ति, परं पाश्चात्थेन लेखकेन केनापि लिगिता मम्भान्यते, समस्ताना दृष्टान्तसूत्राणामेवम्भूताया व्याख्याया अनुपलम्भात् ।

अपरं मंत्रं सिद्ध्येति तदाविर्भावयन्नाह—

जंपि य इमं समणाणं निगंथाणं उद्दिट्ठं पणियं वियंजियं दुवालसंगं गणिपिडगं, तंजहा—
आचारो सूयगडो जाव दिट्ठिवाओ, सबमेयं मिच्छा, ण एयं ताहियं ण एयं अहाताहियं

व्याख्या—यदपि चेदं प्रत्यक्षासन्नभूतं 'श्रमणानां' साधूनां 'उद्दिष्टं' तदर्थं प्रणीतं, व्यञ्जितं-प्रकटीकृतम् ।
द्वादशाङ्गं गणिपिटकं, तद्यथा-आचाराङ्गं यावद्दृष्टिवादः, सर्वमेतन्मिथ्या, अनीश्वरप्रणीतत्वात्, यदीश्वरप्रणीतं तदेव सत्य-
मन्यत्सर्वं सिद्ध्यैव, एतदपि गणिपिटकं ईश्वरप्रणीतं न भवति, स्वेच्छया कल्पितं, तेन मिथ्या । अनया प्ररूपणया अभूतोद्भावन-
त्वमावेदितं । गणिपिटकं सर्वं दृष्टिवादर्पयन्तमतथ्यमपि तथ्यतया प्रतिपादयन्ति, अचौरे चीरत्ववत् असञ्चूतार्थीरोपणं कुर्वन्ति
जैनाः । एतावता ईश्वरप्रणीतमेव तथ्यं नापरं किमपि । अथ यत्सत्यतया मन्यन्ते तदेवाह—

इमं सच्चं इमं तहितं इमं अहाताहितं, [ते] एवं सन्नं कुवति ते एवं सन्नं संठावति, ते एवं
सन्नं सोवट्ठवयंति । तमेव ते तज्जाइयं दुक्खं णो तिउट्ठंति ।

व्याख्या—यदीश्वरप्रणीतं तदेव तथ्यं, तदेव यथातथ्यं, ते ईश्वरकारणिका एवं सञ्ज्ञां कुर्वन्ति, स्वदर्शनानुरागिणः सञ्ज्ञां
संस्थापयन्ति । एवम्भूतां सञ्ज्ञां वक्ष्यमाणनीत्या निर्युक्तिकामपि सुष्ठु सामीप्येन तथाऽऽग्रहितया तदभिमुखा युक्तीः
स्थापयन्ति, तत ईश्वरप्रणीतं सर्वं सचेतनाचेतनं जगदित्यादिप्ररूपणया तमेव तदभ्युपगमजातीयं दुःखहेतुत्वाद्दुःख-मष्टप्रकारं

कर्म न त्रोटयन्ति । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह—

सउणीपंजरं जहा, ते णो विप्पडिवेदंति तं जहा—किरियावाई वा जाव अणिरएति वा, एवामेव ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारंभंति भोयणाए, एवामेव ते अणारिया विप्पडिवन्ना एवं सहहमाणा जाव इति णो हवाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसन्नेत्ति । तच्चे पुरिसजाते ईसरकारणिएत्ति आहिते (सू० ११) ॥

व्याख्या—यथा ' शकुनिः ' पक्षिविशेषः पजरं नातिवर्त्तते, पौनःपुन्येन भ्रान्त्या तन्नैव वर्त्तते, एव तेऽपि एवम्भूता-भ्युपगमवादिनः कर्मबन्धनं ' नातिवर्त्तन्ते ' न ना त्रोटयन्ति । ते च स्वाग्रहाभिगानग्रहस्ता नैव द्रक्ष्यमाणं ' निप्रतिवेदयन्ति ' न सम्यग् जानन्ति, तद्यथा—क्रियामक्रियां वा शोभनामशोभनां वा, यावदयं [अ] नरक इत्येवं सदसद्विवेकरहितत्वान्नान-धारयन्ति । एवमेव यथा कथञ्चित्ते विरूपरूपैः ' कर्मसमारम्भैर्नानाप्रकारैः साध्यानुष्ठानैर्द्रव्योपार्जनोपायभूतैर्द्रव्यमुपादाय विरूपरूपा-नुष्ठावचान् कामभोगान् समाचरन्ति [भोजनाय], इत्येवं ते अनार्या विरुद्धं मार्गं प्रतिपन्ना न सम्यग्वादिनो भवन्ति । तदेवमीश्वरकर्तृत्वमात्पाद्वैतपक्षश्च युक्तिभिर्विचार्यमाणो न कथञ्चित् घटां प्राञ्चति । अनैतन्मतनिरासे बहूक्तमस्ति- (तद्) बृहद्दीकातोऽनधारणीयं, अत्र ग्रन्थविस्तरभयान्न लिखितमिति । एवं ते प्रतीयन्तः श्रद्धधानाश्च ' नो हृव्वाए नो पाराए अंतरा कामभोगेसु विसन्न 'ति इत्ययं तृतीयः पुरुषजात ईश्वरकारणिक इति । असमञ्जसभाषितया त्यक्त्या

पूर्वसंयोगमप्राप्तो विवक्षितस्थानमन्तराल एव काममोगेषु मूर्च्छितो विषण इत्यवगन्तव्यमिति तृतीयः पुरुषजातः समाप्तः ।
अथ चतुर्थं पुरुषजातमधिकृत्याह—

अहावरे चउत्थे पुरिसजाए नियतिवाइएत्ति आहिज्जाति—इह खलु पाईणं [वा ४ तहेव जाव सेणावइपुत्ता वा, तेसिं च णं एगतीए सङ्घी भवइ, कामं तं समणा य माहणा य संपहारिसु गमणाए जाव मए एस धम्ममे सुअक्खाए सुपन्नत्ते भवइ] ।

व्याख्या—अथ चतुर्थः पुरुषजातो नियतिवादिक आख्यायते, स तु नियतिवादी, (एवमाह—) नात्र कश्चित्कालेश्चरादिकं कारणं, नापि पुरुषकारः, तेषां नियतिबलादेवार्थसिद्धेर्नियतिरेव कारणं, उक्तञ्च—“ प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा । भूतानां महति कृतेऽपि हि यत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥ १ ॥ ” इत्यादि । “ इह खलु पाईणं ” इत्यादिको ग्रन्थः प्राग्ब्रजेतव्यो, यावदेष. धम्मो नियतिनादरूपः स्वाख्यातः सुप्रज्ञप्तो भवतीति । स च नियतिवादी स्वाभ्युपगमं दर्शयितुमाह—

इह खलु दुवे पुरिसा भवंति—एगे पुरिसे किरियमातिक्खाति एगे पुरिसे णोकिरियमातिक्खाति, जे य पुरिसे किरियमाइक्खइ जे य पुरिसे नोकिरियमाइक्खइ, दोवि ते पुरिसा तुल्ला,

एगट्टा, [कारणमावन्ना] ।

व्याख्या—इहाऽस्मिन् जगति, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, द्वौ पुरुषौ भवतः, तत्रैकः क्रियामारुप्यति, क्रिया हि देशादेशान्तरावासिलक्षणा पुरुषस्य भवति, न कालेश्वरादिना प्रेरितस्य)ता(?) भवति, अपितु नियतिप्रेरितस्य, एवम-क्रियाऽपि, यदिवा क्रियावादमक्रियावादं च समाश्रितौ तौ द्वावपि नियत्यधीनत्वात्तुल्यौ । यदि पुनस्तौ स्वतन्त्रौ भवतस्तदा क्रियाऽक्रियाभेदान्न तुल्यौ स्यातां इत्यत एकार्थौ, एककारणापन्नत्वादिति, नियतिवाद्मनियतिवादं च समाश्रिताविति भावः । उपलक्षणार्थत्वाच्चास्यान्योऽपि यः कश्चित् कालेश्वरादिकं पक्षान्तरमाश्रयति सोऽपि नियति-प्रेरित एव द्रष्टव्य इति ।

बाले पुण एवं विप्पडिवेदेति कारणमावन्नो—अहमंसि दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा, अहमेयमकासि, परो वा जं दुक्खति वा सोयति वा जूरति वा तिप्पइ वा पीडइ वा परितप्पइ वा, परो एवमकासि, एवं से बाले सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेति कारणमावन्नो । मेहावी पुण एवं विप्पडिवेदेति कारणमावन्नो—अहमंसि तु ामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा, णो अहं एयम-

कासि । परो वा जं दुक्खति वा जाव परितप्पइ वा नो परो एवमकासि, एवं से मेहावी सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेति कारणमावन्ने ।

व्याख्या—नियतिवाद्येवं प्ररूपयति—यो ' बालो ' मूर्खः स एवं जानाति यत्सुखदुःखाद्युत्पद्यते जन्तूनां तत्सर्वं काले-
 क्षरादिकृतं जायते । तद्यथा—योऽहमस्मि दुःखं—शारीरमानसमनुभवामि तथा ' सोयामि ' इष्टानिष्टविप्रयोग[संप्रयोग]कृतं
 शोकमनुभवामि तथा ' तिप्पामि ' शारीरबलात् क्षरामि तथा ' पीडामि ' सबाह्याभ्यन्तरया पीडया पीडामनुभवामि ।
 तथा ' परितप्पामि ' परितापमनुभवामि ' जूरयामि ' अनार्यकर्मणि प्रवृत्तमात्मानं गर्हामि, अनर्थावाप्तौ विद्मरयामि ।
 तदेवं यदहं सुखदुःखशोकादिकमनुभवामि तत्सर्वं मयैव परपीडयाऽल्लितं ममोदयमागतम् । तथा परोऽपि यत्सुखदुःखादिक-
 मनुभवति मयि वाऽऽपादयति तत्स्वयमेव कृतमिति दर्शयति—' परो वे ' त्यादि । तथा परोऽपि यन्मां दुःखयति शोचयति
 इत्यादि प्राग्वज्ज्ञेयं, तत्सर्वमहमकार्षम् । बालोऽज्ञ एवं [वि]प्रतिवेदयति—जानीते । स्वकारणं वा परकारणं वा सर्वं दुःखादि
 पुरुषाकारा[दि]कृतमिति जानीते, तदेवं नियतिवादी पुरुषाकारकारणवादिनो बालत्वमापाद्य स्वमतमाह ' मेहावी ' त्यादि,
 ' मेघावी ' नियतिवादापक्षाश्रयी एवं त्रिप्रतिवेदयति—जानीते । ' कारणमापन्न ' इति नियतिरेव कारणं सु[खदुः]खाद्यनु-
 भवस्य । तद्यथा—योऽहमस्मि ' दुःखयामि ' शोचयामि तथा ' तिप्पामि ' ति क्षरामि पीडामनुभवामि परितापमनुभवामि,
 नाहमेवमकार्षं दुःखं, अपि तु नियतित एवैतन्मद्ययागतं, न पुरुषाकारादिकृतं, यतो—नहि कस्यचिदात्मा अनिष्टो, येनानिष्टा

दृष्टान्तेष्वधिकार क्रिया समासतः । नियन्त्रयन्त्या अनिच्छन्ति नृकर्मणे येन दृष्टो भवेत् । कारणमापन्नं ह्यनि पश्यन्ते-
 मायोजन्ती(या)स्य । एवं च नियन्तादी इषं प्रकृतौ पश्यन्त्येव । अथ । नियन्ताश्रयणन भवति-
 कायं च दृष्टान्तोकारिकादिप्रकारादश्रयणिकत्वात् । नियन्तव्यनि, नाश्रयणं ह्येवं । कायं-
 च दृष्टान्तव्यवस्यतः, पश्यतु पश्यन्त्यादिना नृकर्मणोऽपि नियन्तार कर्तव्येन नियन्तार-
 नियन्तव्योत्पत्तिर्दोषव्यवसाह-

से नैमि-
 यमान्ति, ने पं विभं-
 पं विव्यभिनं-

व्याख्या-
 अर्थव्येनं नियन्ति
 कृपार-
 शान्त्यव्यवस्यति,
 शीतसमासव्यवस्यति ।

विधानमाजो भवन्ति । तदुत्प्रेक्षया—नियतिवादोत्प्रेक्षया यत्किञ्चनकारितया परलोकमीरवो नैतद्विप्रतिवेदयन्ति—जानन्ति ।

तदेवाऽह—

किरियाति वा जाव निरएत्ति वा अणिरएत्ति वा, एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरू-
वरूवाइं कामभोगाइं समारंभंति भोयणाए । एवामेव ते अणारिया विप्पडिवन्ना तं सद्वहमाणा
जाव इति ते णो हवाए णो पाराए अंतरा कामभोगेसु विसन्ना । चउत्थे पुरिसजाते णियइवातिए
त्ति आहि[ए]ज्जति ।

व्याख्या—ते नियतिवादिनो नियतिपक्षमेवाश्रिताः नान्यत्किमपि विदन्ति—क्रियामक्रियां सिद्धिमसिद्धिं चेत्यादि
न जानन्ति । नियतिमेवाश्रित्य तमेव निर्युक्तिकं नियतिवादं श्रद्धधानास्तमेव प्रतीयन्त इत्यादि तावन्नेयं यावदन्तरा
कामभोगेषु विषण्णा आत्मानमन्यांश्चोद्धर्तुमशक्ताः ऐहिकाश्रुषिमकाद्गृष्टा मुक्तिमप्राप्ता अन्तराल एव संसारपङ्के मग्नाः
[पद्मवर]पुण्डरीकोद्धरणसमर्थाः सन्त एवमेवावतिष्ठन्ते इति चतुर्थः पुरुषजातः समाप्त इति । एतावता चतुर्थः पुरुषो
नियतिपक्षाश्रित उक्तः । उपसञ्जिघृक्षुराह—

इच्छेते चत्तारि पुरिसजाता णाणापन्ना णाणाछंदा णाणासीला णाणादिट्ठी णाणारुई नाणा-

वेगे x तेसिं च णं खेत्तवत्थूणि परिग्गहियाणि भवंति, तं जहा-अप्पयरा वा सुज्जयरा वा x, तेसिं च णं जणजाणवयाइं परिग्गहियाइं भवंति, तं जहा-अप्पयरा वा सुज्जयरा वा, तहप्पगारेहिं कुलेहिं आगम्म अभिभूय एगे भिक्खायरियाए समुट्ठिता संतो वि एगे णायओ [अणायओ] य उवगरणं च विष्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता, असतो वा [वि] णायओ य अणायओ य उवगरणं च विष्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता, [जे ते सतो वा असतो वा णायओ य अणायओ य उवगरणं उवगरणं च विष्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता] पुव्वमेव तेहिं णायं भवति, तं जहा—

न्याख्या—यादृक्कामभोगेष्व(ना)सक्तः सन्नन्तरा नावसीदति पद्मवरपुण्डरीकोद्धरणाय च समर्थो भवति तदेतदहं ब्रवीमि-
प्राचीनादिक्कामन्यतरां दिशमृद्दिश्य एके केचन मनुष्याः सन्ति, आर्याऽनार्याः उच्चैर्गोत्राः * 'कायवन्तः' प्रांशवः
'द्रस्ताः' वामनाः * सुवर्णाः दुर्वर्णाः सुरूपाः कुरूपाः, एके केचन कर्मपरवशा भवन्ति, तेषां च क्षेत्राणि वास्तूनि—[गुहाणि]

x x नास्येतच्चिन्हान्तर्गतो मूलपाठः सद्यत्तिकमुद्रितप्रतिषु, वृत्तिस्तु विहिता वृत्तिकल्पूष्यैः ।

* एतच्चिन्हान्तर्गतो वृत्तिपाठः “ कुरूपाः ” इत्यतोऽनन्तरमस्ति सर्वास्वपि दीपिकाप्रतिषु, परं सूत्रानुसारात्तो युष्यतेऽत्रैवातो-

इत्थं नियोजितः ।

क्षान्तोच्छ्रिताकी) निःपरिप्रीत्यानि भवन्ति, तादृश विभागसिद्ध अव्ययवाणि श्लोकाः । मभूत् त्ववाणि वा भवन्ति, तोषाभेद मन्-
 । आन भिदा परिप्रीत्या भवन्ति, तोषाभेदवाणा मभूत्तवा वा भवेत्तथा तोष सादृशो विविधोपमाविशिष्टेय तथा प्रकारेभ्य
 क्लृप्तवाच्येण एव भूतानि प्राणिनो अन्वो तथाभकारेभ्य क्लृप्त्य वा आगम्य जन्म लब्धेय मभिमूष च विषयकथावादीन परी
 भ्रंतेपरवर्तिना वा सम्यग्भूतान्वित्येवथाय मन्व्यर्था पुष्टीत्या एकै केचन तथाविधपरवर्तनो विभाच्यर्थाय श्रुत्वत्पारातथा 'यतो'
 विषयमनाचरि वा 'एके' केचन पदारास्योपगतौ 'क्षान्तीन्' 'क्षान्तीन्' परिसमास्तथाविशकारणि च
 कामभोक्तृभिर्धनधान्यादिभिरुपादिक् विविध मन्व्यो 'हित्वा' 'त्यर' । विभाच्यर्थाय श्रुत्वत्पारा । अस्तौ वा पाली(वप्राती)
 व्युत्करणे च विभाच्य विभाच्यर्थायादिके केचनपद्यतस्वसवविभवाः श्रुत्वत्पारा, य तो भवत्कान्वितोपमाविशिष्टा विभाच्यर्थाया
 मभूमत्पारा 'प्रीति' मन्व्यामभूमत्पारा एव तोरतत क्षान्तं भवति, तन्वया

इह स्वदुःखेभ्यो अपिरो अद्यमक्षं ममदुःखं एव विप्रदिजेतेति, तं जज्ञा खेत्तं मे वक्षु मे क्षिराणं
 मे सुन्दरं मे धानं मे धत्तं मे कंसं मे दूरां मे, विप्रलक्षणकण्ठपरभाषाणिमौत्तिचरं स्वरेत्यवचन
 एवपरभाषेतपारासवित्तं मे, राहा मे खन्ना मे मंधा मे रसा मे धारा मे, एते स्वदुःखं मम कामभोगेना
 आहं स्वदुःखत्पुत्तेशं । ए मे क्षान्ती प्रवर्गेन भाषणो एवं रागादिभाषेणा, तं जज्ञा -

व्याख्या - इह अपरि, स्वदुःखं चोक्तवान्कारे, अन्वयत्परास्तद्विषय भोगेन प्रोक्तमथ मविष्यतीत्येवमथो मन्व्यर्था अतिपरा

प्रतिप्रतिपत्नी ' प्रोदयति ' जानाति, यथा-क्षेत्रं ' वास्तु ' गृहं निरण्यं गुणं मनं धान्यं कौस्यं दृष्यं [तथा] विपुलधनकनक-
 रत्नमणिमौक्तिककलाशिलाप्रवालरत्नरत्नादिकं गत्वारं ' सापतेयं ' द्रव्यजातं मनं मे, तन ' मे ' समोपगोमाय
 तथिदयति । तथा शब्दाः रूपाणि गन्धाः रसाः स्पर्शाः, एते तेषु स्वलु मे कामगोमाय तथिदयन्ति, अहमप्येता योगक्षेमाथं
 प्रतिप्रतिपत्ति, इत्येवं गम्प्रभार्यं पूर्वगोमायानं विजानीया-क्षेवं पर्यालोचयेत्तथा—

इह स्वलु मम अन्नयरे [दुःखे] रोगातंके समुष्पजेजा अणिदु अकंते अविपग् असुभे अम-
 णुश्रे असणामे दुःखेणो सुहे सेहंता, भयंतारो ! कामभोगा ! इमं मम अन्नतरं दुःखं रोगायंकं प-
 रियादयह, अणिदुं अकंतं जाव दुःखं णो सुहं, ताऽहं दुःखामि वा सोयामि वा जूरामि वा
 तिष्पामि वा पीडामि वा परितष्पामि वा इमाओ मं अन्नयराओ दुखाओ रोगातंकाओ परिमोयह,
 अणिदुओ जाव असणामाओ दुःखाओ, णो सुहाओ, एवं नो लच्छपुवं भवति ।

व्याख्या—' इह ' संगारे, सत्यवधारणे । ' इह ' मनुष्यमथे ममान्यतरसुःखं-धिरोवेदनादिकं ' आतङ्को ' वा आशु-
 भीतिव्यथापकारी शूलदिकः मनुस्पथते । कीदृशाः ? अनिष्टः अकान्तः अप्रियः अशुपः अमनोद्यः अचनामः दुःखः, दुःख-
 हेतुमान ' णो सुहे ' सुखंहेनानाप्यस्पृष्टः, एवंविधः आतङ्क आयाति तदा कामगोमाय प्रत्येवं वक्ति, यथा-' संत ' इति खेदे,
 तयात्रातारो यूपं क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यादिकाः परिग्रहविशेषाः, तथा शब्दादयो वा विषयाः, हे भ[ग]वन्तः !

ताऽहं दुःखं मिवा सोयामि वा जाव परितः मिवा, इमाओ मं यराओ [दुःखं] रोगायं [ओ] परिमोएह णिट्ठाओ । वणो हा । एवामेव नो पुंभं भवइ । तेसिं वा वि भयंताराणं म णाययाणं अ यरे दुक्खं रो ते सुप्पे । णिट्ठे जाव णो सुहे, हंता अहमेतेसिं भयंताराणं णाययाणं इमं अन्नयरं दुक्खं रोगात्तं परिआइयासि अणिट्ठं जाव णो सुहं, मा मे दुक्खंतु वा [व मा मे रित्तप्यं वा], इमा [णं] अन्नयरओ दुक्खं रोयां । गो परिमोएसि णिट्ठा । व णो हाओ । एवामेव नो पुंभं भवति—अन्नस्स दुक्खं अन्नो नो परिआदियति अन्ने क(डं)तं न्नो नो पडिसंवेदति, पत्तेयं पत्तेयं मरति पत्तेयं चयति पत्तेयं उववज्जति पत्तेयं झंझा पत्तेयं सन्ना पत्तेयं म ।, एवं वि वेदणा, इति लु नातिसंजोगा णो ताणाए वा सरणाए वा, पुरिसे य एगया विं नातिसंजोए विप्पजहति नातिसंजोगा वा एगया पुंविं पुरिसं विप्पजहंति । अ लु नातिसंजोगा । हंसि, किमंग पुण वयं मन्नेहिं णातिसंगेहिं सुच्छामो ?

इति संखाए णं वयं नातिसंजोगं विष्पजहिस्सामो इति * ।

व्याख्या—‘ इह ’ अस्मिन् भवे मम वर्त्तमानस्य अनिष्टादिविशेषणविशिष्टो दुःखातङ्कः समुत्पद्येत, ततोऽसौ तदुःख-
दुःखितो ज्ञातीनेत्रमभ्यर्थयेत्, तद्यथा-इदं ममान्यतरं दुःखातङ्कं समुत्पन्नं परिचुकीत यूयं, अहमनेन दुःखातङ्केन पीडि-
तोऽस्मि, अतोऽमुष्मान्मां परिमोचयत यूयमिति । न चैतत्तेन दुःखितेन लब्धपूर्वं भवति, न हि ते ज्ञातयस्तं दुःखान्मोचयि-
तुमलमिति भावः, नाप्यसौ तेषां दुःखमोचनायालमिति । ‘ तेसिं वा वि भयंताराणं मम नाययाणं’मित्यादि
मर्षं प्राग्बधोजनीयं, यावदेवं नो लब्धपूर्वं भवतीति । किमित्येवं नो लब्धपूर्वं भवतीत्याह—‘ अन्नस्स दुक्खं नो अन्नो
परियादिद्यह ’ इत्यादि, सर्वस्यैव संसारोदरविवरवर्त्तिनोऽसुमतः स्वकृतकर्मोदियाद्यदुःखमुत्पद्यते तदन्यस्य दुःखमन्यो माता-
पित्रादिको न पर्यादेत्ते तस्मात्पुत्रादेर्दुःखेनात्यन्तं पीडिताः स्वजना नापि तद्दुःखमात्मनि कर्तुंमलं । किमित्येवमाशङ्क्याह—
‘ अन्नेण कइं अन्नो नो पडिसंवेदेति ’ अन्येन जन्तुना मोहवशेन यत्कृतं कर्म तदन्यः प्राणी नो प्रतिसंवेदयति-वानुभवति,
तदनुभवने ह्यकृतागमकृतनाशौ स्यातां, न चेमौ युक्तिसंगतौ, अतो यद्येन कृतं तत्स एवानुभवति, यस्मात्स्वकृतकर्मफलेश्वरा
जन्तवस्तस्मात् ‘ पत्तेयं जायति पत्तेयं मरति ’ इत्यादि, सर्वोऽपि प्राणी प्रत्येकं जायते प्रत्येकं च म्रियते, यतः—‘ एकस्य
जन्ममरणे, गतयश्च शुभाशुभा भवावर्त्ते । तस्मादाकालिकहित-मेकैनेवात्मनः कार्यम् ॥ १ ॥ ’ इति । तथा

* नास्त्येप शब्दो मुद्रितासु सदृत्तिकप्रतिषु हर्षकुलीयदीपिकायामपि ।

प्रत्येकं [क्षेत्रवास्तु] हिरण्यसुवर्णादिकं परिग्रहं शब्दार्थाश्च विषयान्मातापितृपुत्रकलत्रादिकं [च] त्यजति । प्रत्येकग्रुपपद्यते, प्रत्येकं
 ' श्रृंक्षा ' कलहः कपायाश्च प्रत्येकं मन्द-तीव्रतया मष्टुत्पद्यन्ते । तथा प्रत्येकं ' सञ्ज्ञा ' अर्थपरिच्छिन्धिः, माऽपि मन्दम-
 न्दतरपटुतरभेदात्प्रत्येकग्रुपजायते । सर्वज्ञादारस्तस्तरतमयोगेन मतेर्व्यवस्थितन्नात् । तथा प्रत्येकं ' मननं ' पर्यालोचनं
 तथा + प्रत्येकमेव सुखदुःखानुगमनः । उप[सं]जिघृक्षुराह— ' इति नल्लु नातिसंज्ञोणा नो ताणाण वा मरणाण वा '
 इति पूर्वोक्तप्रकारेण, यतो नान्येन कृतमन्यः प्रतिसंवेदयते प्रत्येकं [च] जातिजरागमणादिकं, ततः खल्वमी ज्ञातिसंयोगाः
 संसारेऽत्यन्तपीडितस्य तदुद्धरणे न त्राणाप्य नापि शरणाय । किमिति ? यतः पुरुष एकदा क्रोधोदयेन ज्ञातिसंयोगान्
 ' विग्रजहाति ' त्यजति स्वजना वा तदनाचारदर्शनतस्तं पुरुषं त्यजन्ति । तदेवं व्यवस्थिते एनं मानयेत्—खल्वमी ज्ञाति-
 संयोगा मत्तो विज्ञा, एभ्यश्चाहमन्यः । ततः किमन्यै[रन्यै] ज्ञातिसंयोगैर्मूर्च्छां कुर्मः ? न तेषु मूर्च्छां क्रियमाणा न्याय्येत्येवं
 ' संख्याय ' ज्ञात्वा चयमुत्पन्नवैराग्या ज्ञातिसंयोगौस्त्यक्ष्याम इत्येवं ये कृताध्यवसायिनस्ते ' विज्ञाः ' पंडिताः, ते निदित-
 वेष्टा भवन्तीति । साम्प्रतमन्येन प्रकारेण वैराग्योत्पत्तिकारणमाह—

से मेहावी जाणिजा बाहिरगमेयं, इणमेव उवणीयतराणं, तंजहा-हृत्था मे पाया मे बाहा मे
 ऊरू मे उदरं मे सीसं मे सीलं मे आऊ मे बलं मे वण्णो मे तथा मे छाया मे सोयं मे चक्खू मे घाणं मे

+ " प्रत्येकमेव ' विष्णु ' चि विद्वान्, तथा " इति बुद्धवृत्तौ ।

जिबभा मे फासा मे ममातिज्जाति वयाओ पडिजूरति, तंजहा-आऊओ बलाओ वन्नाओ तयाओ
 छायाओ सोयाओ जाव फासाओ, सुसंधिता संधी विसंधी हवंति । वलि[य]तरंगे गाए भवति ।
 किण्हा केसा पलिया भवंति । तंजहा-जंपि य इमं सरिरं उरालं आहारोवचियं, एयंपि य
 अणुपुवेणं विप्पजाहियवं भविस्सति । एयं संखाए से भिक्खू भिक्खायारियाए समुट्ठिए दुहओ
 लोगं जाणेज्जा, [तंजहा-] जीवा चेव अजीवा चेव, तसा चेव थावरा चेव (सू. १३) ।

व्याख्या—स मेधावी एतद्वक्ष्यमाणं जानीयात्, तद्यथा-बाह्यतरमेतज्ज्ञातिसम्बन्धनमिदं, इदमुपनीततर-मासन्नतरं,
 शरीरावयवानां आसन्नतरत्वात् । तद्यथा-हस्तौ मे पादौ मे पद्मगर्भसुकुमालौ, नान्यस्य कस्यापीदृशावित्यादि । शीर्षं मे
 उदरं मे शीलं मे आयुर्भ्रमे वर्णबलत्वचाछायाश्रोत्रचक्षुर्नासिकाजिह्वास्पर्शनेन्द्रियमित्याद्यंगोपाङ्गाः सर्वेऽपि सुन्दरतराः,
 इत्येवं 'ममाति' ममी करोति, यादृक् मे न तादृगन्यस्येति भावः । एतच्च हस्तपादादिकं स्पर्शनेन्द्रियपर्यवसानं वयसः
 परिणामात्कालकृतावस्थाविशेषात् 'परिजूरह'ति परिजीर्यते-जीर्णतां याति, प्रतिक्षणं विशरारुतां याति । तस्मिंश्च
 प्रतिक्षणं विशीर्यति शरीरे प्रतिसमयं प्राण्येतस्माच्छश्यते, तद्यथा-आयुषः पूर्वनिबद्धात्समयादिहान्या अपचीयते, आबीची-
 मरणेन प्रतिसमयं मरणाभ्युपगमात् । तथा बलादपचीयते, तथाहि-यौवनावस्थायाश्च्यवमाने शरीरके प्रतिक्षणं शिथिली-

नुष्ठानेन वा 'अनुपस्थिताः' सम्यगुत्थानमकृतवन्तो येऽपि कथञ्चिद्धर्मकरणयोत्थितास्तैष्युद्दिष्टमोजित्वात्सावधानुष्ठान-
परत्वाच्च गृहस्थकल्पा एवेति । [साम्प्रतष्टुपसंहरति-]

जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा,
दुहतो पावाइं कुंबंति, इति संखाए दोहि वि अंतेहिं अदिस्समाणो इति भिक्खू रीएज्जा ।

व्याख्या—ये इमे गृहस्थादयस्ते द्विधाऽपि मारम्भसपरिग्रहत्वाभ्यामुभाभ्यामपि पापान्शुपाददते, यदि वा राग-
द्वेषाभ्यां यदि वा गृहस्थप्रव्रज्यापर्यायाभ्यां उभाभ्यां पापानि कुर्वत इत्येवं 'संख्याय' ज्ञात्वा द्वयोरप्यन्तयो[रारम्भ-
परिग्रहयो]रागद्वेषयोर्वा अदृश्यमानो भिक्षुरनवद्याहारभोजी सत्संयमानुष्ठाने 'रीयेत' प्रवर्त्तेत ।

से वेमि— पाईणं वा ४ जाव एवं से परिन्नाथकम्ममे, एवं से वियथ [ववेय]कम्ममे । एवं से
वियंतकरए भवतीति मक्खायं (सू. १४)

व्याख्या—'से वेमि' तदहमधिकृतमेवार्थं विशेषिततरं सोपपत्तिकं ब्रवीमि—प्रज्ञापकापेक्षया प्रव्यादिकाया दिशो-
ऽन्यतरस्याः समायातः—स भिक्षुर्द्वयोरप्यन्तयोरदृश्यमानतया सत्संयमे रीयमाणः सत्त्वमनन्तरोक्तेन प्रकारेण ज्ञपरिज्ञया
ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च प्रत्याख्याय+ कर्मणामन्तकृद्भवति । अनेन प्रकारेण संसारस्याप्यन्तकृद्भवतीत्येतत्तीर्थ-

+ "परिज्ञातकर्मा भवति, पुनरपि 'एवमिति परिज्ञातकर्मत्वाद्द्वयपेतकर्मा भवति—अपूर्वस्याबन्धको भवतीत्यर्थः, पुनरेवमित्य-

मिज्जमाणा वा उद्धविज्जमाणा वा जाव लोसुखखणमायमत्रि हिंसाकारणं दुक्खं भयं पडिसंवेदंति,
 एवं नच्चा सब्बे पाणा न हंतवा न अज्जावेयवा न परियावेयवा न उवद्धवेयवा । से बेमि—

व्याख्या—‘ तत्रे ’ति कर्मबन्धप्रस्तावे खलु भगवता पङ्जीवनिकाया हेतुत्वेनोपन्यस्ताः, पृथिवीकायो यावन्नसकाय
 इति । तेषां च पीड्यमानानां यथा दुःखमुत्पद्यते तथा स्वसंवित्तिसिद्धेन दृष्टान्तेन दर्शयितुमाह—यथा नाम मम ‘ असातं ’
 दुःखमुत्पद्यते तथा तेषामपीति । तद्यथा—दण्डेन अस्थना मुष्टिना ‘ लेलुना ’ लोष्ठेन कपालेन ‘ आकोट्यमानस्य ’ सङ्को-
 च्यमानस्य हन्यमानस्य तर्ज्यमानस्य, ताड्यमानस्य कुड्यादावभिघातादिना, परिताप्यमानस्य तथा ‘ उपद्राव्यमानस्य ’
 मार्यमाणस्य यावच्छोमोत्खननमात्रमपि हिंसाकरं दुःखं भयं च यन्मयि क्रियते तत्सर्वमहं संवेदयामीत्येवं जानीहि । तथा
 सर्वे प्राणा जीवा भूतानि सच्चा, एतेषां दण्डादिनाऽऽकुट्ट्यमानानां यावच्छोमोत्खननमात्रमपि दुःखं हिंसाकरं भयं चोत्पन्नं
 तेऽपि प्राणिनः सर्वेऽपि ‘ प्रतिमंवेदयन्ति ’ साक्षादनुभवन्तीत्येवमात्मोपमया पीड्यमानानां जन्तूनां यतो दुःखमुत्पद्यते, अतः
 सर्वेऽपि प्राणिनो न हन्तव्या न व्यापादयितव्या ‘ न आन्नापयितव्या ’ न बलात्कारेण व्यापारे प्रयोक्तव्यास्तथा न परि-
 ग्राह्या न परितापयितव्याः नापद्रावयितव्याः । सोऽहं ब्रवीमि एतन्न स्वमनीषिकया, किन्तु सर्वतीर्थकराज्ञयेति [दर्शयति]—
 जे[य] अतीया जे[य] पडुप्पन्ना जे[य] आगमिस्सा अरिहंता भगवंतो, ते सब्बे एवमाइ-
 क्खंति एवं भासंति एवं पन्नविंति एवं परूविंति—सब्बे पाणा जाव सब्बे सत्ता ण हंतवा जाव ण उवद्ध-

इमेण मे दिट्टेण वा सुएण वा सुएण वा विन्नाएण वा इमेण वा सुचरियतवनियमंबंभचेर-
 वासेणं इमेण वा जायामायावत्तिएणं धम्मेणं इओं तुए पिच्चा देवे सिया, कामभोगाण वसवत्ती
 सिद्धे वा अटुक्खमसुभे ।

व्याख्या—(+ एतज्जन्मकृतस्य तपसः फलं आमर्षौषध्यादिलिखिसम्प्राप्त्या दृष्टं ।) अनेन तपोनियमब्रह्मचर्यादि
 धर्मकरणीयेन इतो मृतो भवान्तरे देवो भूयासं एवंविधामाशंसां न करोति, अशेषकर्मवियुतो वा सिद्ध ' अदुःख अशुभ
 शुभाशुभकर्मप्रकृत्यपेक्षया, एतावता मध्यस्थः स्यामहं इत्येवंविधामाशंसां न करोति । तदकरणे कारणमाह—

एत्थ वि सिया एत्थ वि नो सिया । से भिक्खू सदेहिं अमुच्छिए रूवेहिं* अमुच्छिए रसेहिं अमु-

+ एतस्मिन्नद्वैचन्द्राकारचिन्हमध्यवर्त्तिपाठस्थाने निर्देक्ष्यमाणः पाठोऽस्ति बृहद्वृत्तौ—“ इमेण मे—इत्यादि, अस्मिन्नेव जन्मन्य-
 मुना विशिष्टतपस्करणफलेन दृष्टेनामर्षौषध्यादिना तथा पारलौकिकेन च श्रुतेनार्द्रकधम्मिल्लब्रह्मइत्तादीनां विशिष्टतपस्करणफलेन, तथा
 ' मएण व ' ति ' मन ज्ञाने ' जातिस्मरणादिना ज्ञानेन तथाऽऽचार्यादेः सकाशाद्भिक्खातेन—अवगतेन ममापि विशिष्टं भविष्यती-
 त्येवं नाशंसां विदध्यात् । ”

* * यद्यप्येतच्चिह्नान्तर्गतः सूत्रपाठः सवृत्तिकासु मुद्रितप्रतिषु “ गंधेहिं अमुच्छिए रसेहिं अमुच्छिए ” इत्येवं व्यत्ययेनास्ति,

च्छिपु गंधेहिं अमुच्छिपु* फासेहिं अमुच्छिपु त्रिरु कोह्याओ माणाओ मायाओ लोभाओ पेजाओ
दोराओ कलहाओ अब्भक्खाणाओ पेसुन्नाओ परपरिवायाओ अरतीओ[अरति]रतीओ माया-
मोसाओ सिच्छादंसणसह्याओ, इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्टिए पडिविरए से भिक्खू ।

व्याख्या—अनेन विशिष्टपराऽपि स्यात् कदाचित् सिद्धिः कदाचिन्न स्यादपि । अतः आद्यंसां न कुर्यात् । तदेवगैहि-
कार्थगद्युष्णिकार्थं च कीर्त्तित्वर्णश्लोकार्थं च तपो न विधेयं—न कुर्यादिति । कथम्भूतो गिधुः ? शब्दे रूपे रसे गन्धे स्वर्गे
अगुच्छितः । क्लोषमानगायालोपं यावन्निगध्यादर्शनशब्दं, एवमष्टादश पापरथानकेभ्यो विरतः । तथा स गिधुर्भवति यो महतः
कर्म्मोपादानादुपशान्तः सन् संयमे चोपस्थितः सर्वपापेभ्यश्च विरतः प्रतिविरत इति । कर्म्मोपादानाद्विरगणं साक्षाद्दर्शयति—

जे इमे तसा थावरा पाणा भवंति ते णो सयं समारंभति । नेवज्जेहिं समारंभावेति । अन्ने
समारंभंते विन समणुज्जाणति, इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्टिए पडिविरए [से भिक्खू] ।

व्याख्या—इत्यादि युगपत् । एवं महतः कर्म्मोपादानादुपशान्तः प्रतिविरतो भवति गिधुरिति । साम्प्रतं कागभोग-

परं धीषिकाग्रतिषु सर्वास्वप्येतत्तत्क्रमोऽपि वास्ति, वृत्तिकारेणानि “ एवं रूपरागन्धस्पर्शेष्वपि वाच्यमित्य ”नेन वाक्येनेतदेव क्तः
स्वीकृतोऽस्ति ।

निश्चितिमधिकृत्याऽह—

जे इमे कामभोगा सचित्ता वा अचित्ता वा, ते णो सयं परिगिण्हति णो अन्नेणं परिगिह्हावेति
अन्नं परिगिह्हतं न समणुजाणइ, इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्टिए पडिविरते से भिक्खू।
व्याख्या—ये केचन काम(1)भोगाश्च ते सचित्ता वा अचित्ता वा मवेयुस्तांश्च न स्वतो गृह्णीयान्नाप्यन्येन ग्राहयेना-
प्यपर समनुजानीयादित्येवं कर्मोपादानाद्विरतो भिक्षुर्भवतीति ।

जंपि य इमं संपराइयं कम्मं कज्जति, नो तं सयं करोति नेवन्नेणं कारवेति अन्नांपि करंतं नाणु-
जाणति, इति से महतो आदाणाओ उवसंते उवट्टिए पडिविरते (+ भवति भिक्खू) ।

व्याख्या—येन कर्मणा संसारे पर्यटनमनन्तशो जायते तत्साम्प्रायिकं कर्म, तच्च प्रद्वेषनिह्ववमात्सर्यान्तरायाशातनो-
पघातैर्बध्यते, तत्कर्म तत्कारणं वा न कृतकारितानुमतिभिः करोति स भिक्षुरभिधीयते । साम्प्रतं भिक्षाविशुद्धिमधिकृत्याऽह—

से भिक्खू जाणेज्जा असणं ४ वा अस्सिं ४ पडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं भूताइं
जीवाइं सत्ताइं समारंभं समुद्दिस्स कीतं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसिट्ठं अभिहडं आहडुद्देसियं तं चे-

+ नास्येतच्चिन्हान्तर्गतः शब्दः सवृत्तिकासु मुद्रितप्रतिषु ।

X आहारदानप्रतिज्ञया यद्विवाडरिमन् पर्याये—साधुपर्याये व्यवस्थितं साधुं साधर्मिकं समुद्दिश्य । इति टि० २ ।

तियं सिता, तं० नो सयं भुंजइ नेवनेणं भुंजावेति अन्नंपि भुंजंतं नो समुजाणइ इति से महतो
 आयाणांओ उवसंते उवट्टिए पडिविरते से भिक्खू ।

व्याख्या—सुगमम् । यो भिक्षुरेवम्भूतमाहारं + द्वाचस्वारिश्लोपदृष्टं स्वयं न गृह्णाति न ग्राहयति गृह्णन्तं न समनुजानाति
 स भवति भिक्षुरिति । स भिक्षुः पुनरेवं जानीयात्—

विज्जाति तेसिं परक्कमे जस्सट्टाए चेइयं सिया, तं जहा—अप्पणो से पुत्ताणं धूयाणं सुणहाणं
 धातीणं नातीणं राईणं दासाणं दासीणं कम्मकराणं कम्मकरीणं आदेसाणं पुढो पहेणाए सामासाए
 पातरासाए सन्निहिंसनिचए कज्जाति इह मेगेसिं माणवाणं भोयणाए ।

व्याख्या—विधत्ते 'तेषां' गृहस्थानां 'पराक्रमः' सामर्थ्यं—आहारनिर्वर्तनं प्रत्याऽऽरम्भः, तेन च यदाहारजातं-

न "जानीयात् 'अस्मिं पडियाए' एतत्प्रतिज्ञया एक साधुसाधर्गिक समुद्दिश्य फञ्चित्तकृतिभद्रकः श्रावकः साध्वाहारदानार्थं
 प्राणिनः समारभ्य—प्राणिघातकारम्भं कृत्वा सत्त्वान् समुद्दिश्य—तत्पीडां सम्यगुद्दिश्य कीतं 'प्रागित्यं' उच्छिन्नक 'आच्छेद्यं'
 अन्यस्मादाच्छिद्य गृहीतं 'अनिस्तुष्टं' परेणाननुगतं 'अभ्याहृतं' साधुमन्मुखमानीतं 'आहृत्य' उपेत्य ज्ञात्वा साध्वर्थं कृतगुदेधिकं,
 एवम्भूतमाहारं साधवे 'चेवित्तं' वृत्तं स्यात्, साधुना वाऽऽक्रमेण गृहीतं स्यात्, तदोपदुष्टं प्रात्वा स्वयं न गृहीत वान्यं न भोजयेत्
 न च सुष्ठानमन्यं समनुजानीयात्, एषं " इति धर्म० ।

निर्वृत्तं ' यस्य चार्थाय ' यच्छ्रुते ' वेत्तितं ' दत्तं, निष्पादितं स्याद्भवेत् । यच्छ्रुते निष्पादितं तत्स्वनामग्राहमाह, तद्यथा ' आत्मनः ' स्वनिमित्तमाहारादिपाकनिर्वर्तनं कृतमिति । तथा पुत्रा[द्य]र्थं ' आदेशार्थं ' प्राद्यूर्णकाद्यर्थं, तथा पृथक्-प्रहेणार्थं + त्रिशिष्टाहारनिर्वर्तनं क्रियते, तथा ' श्यामा ' रात्रिस्तस्यामशनं, तदर्थं यावत्प्रातराशः—प्रत्यूषस्येव भोजनं, तदर्थं सन्निधेः मञ्जयः, विशिष्टाहारसङ्ग्रहस्य सञ्चयः क्रियते । अनेन चैतत्प्रतिपादितं भवति—बालग्लानशुद्धादिनिमित्तं प्रत्यूषादिममयेष्वपि मिषाटनं क्रियते, अतः सन्निधिसञ्चय इहैकेषां मानवानां भोजनार्थं भवति । तत्र भिक्षुरु-द्यवविहारी परकृत-परनिष्ठितमृद्मोत्पादनैपणाशुद्धमाहारमाहरेत्, कथम्भूतमाहारं ? तदेवाह—

तथ भिक्खू परकडं परनिष्ठितमुग्गमुप्पायणेसणासुद्धं सत्थाइयं सत्थपरिणामितं अविहिंसितं
 एसितं वेसितं सामुदाणियं पत्तमसणं कारणट्ठा पमाणजुत्तं, अक्खो वंजणवणलेवणभूयं संजमजाया-
 मायावत्तियं विलमिव पन्नगभूतेणं अत्पाणेणं आहारं आहारेज्जा, अन्नं अन्नकाले, पाणं पाणकाले,
 वत्थं वत्थकाले, लेणं लेणकाले, सयणं सयणकाले, से भिक्खू मायन्ने अन्नथरिं दिसं वा अणुदिसं
 वा पडिवन्ने धम्मं आइक्खे विभए किट्ठे उवाट्टिएसु वा अणुवाट्टिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेदए ।
 न्याख्या—' सत्थाइयं ' शुक्लमग्न्यादिकं, तेनातीतं—प्रासुकीकृतं, शन्नपरिणामितमिति—शन्नैव स्वकायपरकायादिना

X आदिशब्दः प्रकारार्थत्वाद् दुहितृस्तुषाधात्र्याद्यर्थम् । + " पहेणयं—भोजनोपायनमुत्सवश्चे"ति देशीनाममालावृत्तौ ।

निर्जीवीकृतं, वर्णगन्धरसादिभिश्च परिणामितं, हिंसां प्राप्तं हिंसितं, विरूपं हिंसितं विहिंसितं, न सम्यङ्निर्जीवीकृत-
मित्यर्थः, तत्प्रतिषेधादविहिंसितं निर्जीवमित्यर्थः । तदप्येषित-मन्वेषितं भिक्षाचर्याविधिना प्राप्तं ' वेसियं ' वैषिकमिति
केवलसाधुवेषावाप्तं, तदपि ' सामुदानिकं ' मधुकरवृत्त्याऽवाप्तं-सर्वत्र स्तोकं गृहीतं, तदपि गीतार्थेनोपात्तमानीतं
तदपि-वेदनावैयावृत्त्यादिके कारणे सति, तदपि प्रमाणयुक्तं, नाऽतिमात्रं, तदपि न वर्णबलाद्यर्थं किन्तु यावन्मात्रेणाऽऽहारेण
देहः क्रियासु वर्त्तते, यथाऽक्षस्योपाञ्जनं अभ्यङ्गो व्रणस्य ' लेपनं ' प्र[व्रण]लेपस्तदुपमया आहारमाहरेत् । उक्तं च—
“ अबभंगेण व सगडं, न तरह विगहं विणा उ जो साहू । सो रागदोसरहिओ, मत्ताएँ विहीइ तं सेवे ॥१॥x”
एतदेव दर्शयति-संयमयात्रायां मात्रा संयमयात्रा[मात्रा], यावत्याऽऽहारमात्रया संयमयात्रा प्रवर्त्तते । तथा बिलप्रवेश-
पन्नगभृतेनात्मना आहारमाहरेत्, यथा पन्नगो बिले प्रविशंस्तूर्णमेव प्रविशति एवं साधुनाप्याहारस्तत्स्वादमनास्वादयता
शीघ्रं प्रवेशयितव्य इति । तदपि ' अन्नं अन्नकाले ' सूत्राथपौरुष्युत्तरकाले (१) भिक्षाकाले प्राप्ते, तथा पानकं पानक-
काले* तथा बद्धं बद्धकाले गृहीया-दुपभोगं वा कुर्यात् । तथा ' लयनं ' गुहादिकमाश्रयस्तस्य वर्षास्ववश्यमुपादानम-
न्यदा त्वनियमः । तथा शय्यासंस्तरकः, स च शयनकाले । तत्राप्यगीतार्थानां प्रहरद्वयं निद्राविमोक्षो गीतार्थानान्तु

+ “ न पुनर्जात्याद्याजीवनतो निमित्तादिना वोत्पादित ”मिति बृहद्बृत्तौ ।

X अभ्यङ्गेनेव शकटं न शक्नोति विद्धति विनैव यः साधुः । स रागद्वेषरहितो मात्रया विधिना तां सेवेत ॥ १ ॥

* “ न वृषितो भुञ्जीत न बुसुधितः पानकं पिबेत् । ” इति हर्षे० ।

प्रहरमेकमिति । तथा स भिक्षुराहारोपविशयनस्वाध्यायाभ्यायनादीनां मात्रां जानातीति तद्विधिज्ञः, अन्यतरां दिशमनुदिशं वा 'प्रतिपन्नः' ममाश्रितो धर्ममाख्यापयेत्-प्रतिपादयेत्, यद्येन [साधुना गृहस्थेन वा] विधेयं तद्यथायोगं विभजेत्, धर्मफलानि च कीर्तयेत् । परहितार्थं प्रवृत्तेन साधुना सम्यगुपस्थितेषु वा [अनुपस्थितेषु] कौतुकादिप्रवृत्तेषु 'शुश्रूषमाणेषु' श्रोतुं प्रवृत्तेषु स्वपरहिताय 'प्रवेदयेत्' कथयेत् । यत्कथयेत्तद्दर्शयितुमाह—

संतिविरतिं उवसमं निघाणं सोयवियं अज्जवियं महवियं लाघवियं अणतिवातियं, सर्वेसिं पाणाणं, सर्वेसिं भूताणं जाव सर्वेसिं सत्ताणं अणुवीइ किट्टए धम्मं ।

व्याख्या—शान्ति-रूपशमः क्रोधजयः 'विरतिः' प्राणातिपातादिभ्यः शान्तिविरतिस्तां कथयेत् । तथोपशमं इन्द्रियोन्द्रियोपशमरूपं रागद्वेषामावजनितां, तथा निर्द्वैति निर्वाणं, तथा 'शौचं' तदपि भावशौचं सर्वोपाधिविशुद्धं ब्रतमालिन्यं 'अज्जवियं' आर्जवं मायारहितत्वं, तथा 'मार्दवं' मृदुभावः अकठोरत्वं सर्वत्र प्रश्रयत्वं विनयनप्रता, तथा 'लाघवियं' कर्मणां लाघवापादानं । साम्प्रतं सर्वशुमानुष्ठानानां मूलकारणमाह 'अतिपातः' प्राण्युपमर्दनं, तत्प्रतिषेधादनतिपातिकस्तं सर्वेषां प्राणिनां भूतानां यावत् सत्त्वानां धर्ममनुविचिन्त्य कथयेत्, सर्वप्राणिनां रक्षानिमित्तभूतं धर्मं कथयेत् ।

से भिक्खू धम्मं किट्टेमाणे णो अन्नस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, नो पाणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा,

श्री-श्रीभूताः, तथा न एवं ' मर्वात्मतया ' गर्वात्मतया गदनुष्ठाने उद्यमं कृतवन्तो, ये चैवम्भूतास्ते अयोपरुर्मर्क्षयं कृत्वा परिनिर्वाणः, अयोपरुर्मर्क्षय कृतवन्त इति । प्रीमीति पूर्वगत । अथाध्यगनोपसंहारार्थमाह—

एवं, से भिस्सु धम्ममट्ठी धम्ममण्डि नियागपण्डित्ते, से जहेयं बुद्धयं अदुवा पत्ते पउमवर-
पुंःरीयं अदया अपत्ते पउमवरपुंःडरीयं । एवं से भिस्सु परिन्नायकस्से परिन्नायसंगे परिन्नाय-
गिह्णत्ते उवमंत्ते समिष् सहिंये सया जण्, से एवं नयणिज्जे, तं जहा—

क्याख्या—एवं न भिक्षुर्मर्षार्थी यथावस्थितं परमार्थतो]र्थं(?) धर्मो सर्वोपाधिविगुहं जानातीति धर्मवित्,
नया ' नियागः ' संगतो विगोक्षो वा, तं प्रतिपन्ना—नियागप्रतिपन्ना, न चैवम्भूतः पञ्चगुरुपुत्रात्, तं चाऽऽभित्य तद्यथेदं
प्राह प्रदक्षिंतं, नमस्वस्तं, न च प्राप्तो वा स्यात् पञ्चरपौण्डरीकमनुग्राहं पुरुषविशेषं नक्रवचर्यादिकं, तस्यासिद्ध
परमार्थतः केवलज्ञानावाप्तौ मत्स्य भवति, माथाद्यथानस्थितवस्तुस्वरूपपरिच्छिन्ने, अप्राप्तौ वा स्यान्मतिश्रुतानधिगमनः-
पूर्वावज्ञानेर्षस्तेः समस्तैर्वा मगन्निवतः । न चैवम्भूतो भिक्षुः परिष्ठातकर्मार्थं (विविशेषणविशिष्टो भवतीत्येतदर्थे गितुमाह—)
न चैवम्भूतो भिक्षुः ' परिष्ठातकर्मार्थं ' परिष्ठातकर्मोस्वरूपः, परिष्ठातगद्, परिष्ठातगद्, परिष्ठातगद्, [इन्द्रियनो]-
इन्द्रियोपपद्यमानया मयिति ' या मयितो ज्ञानादिभिः ' यदा यतः ' संगतः, एवंविधगुणकलापोपेत

नो वत्थस्स हेउं धम्ममाइक्खे , नो णस्स हेउं [धम्ममाइक्खे ।,] नो सयणस्स हेउं [धम्म
इक्खेज्जा,] नो ज्ञेसिं विरूव वाणं कामभोगां हेउं धम्म इक्खेज्जा, गि ए धम्ममाइक्खेज्जा,
नन्नत्थ कम्ममनि रट्ठयाए धम्म इक्खेज्जा ।

व्याख्या—स भिक्षुर्नानस्य हेतोर्ममायमीश्वरो धर्मकथाश्रवणेन विशिष्टाहारजातं दास्यतीत्येतन्निमित्तं न धर्ममाच-
क्षीत । तथा पानस्य वस्त्रलयनशयननिमित्तं न धर्ममाचक्षीत । अन्येषां वा ' विरूपरूपाणां ' उच्चावचानां काट्यर्थाणां
कामभोगानां वा निमित्तं न धर्ममाचक्षीत । तथा ग्लानिमनुपगच्छन् धर्ममाचक्षीत । कर्मनिर्जरायाश्चान्यत्र न धर्मं कथयेत्,
अपरप्रयोजननिरपेक्ष एव धर्मं कथयेदिति । अथ धर्मकथनफलश्रुपदर्शयति—

इह तस्स भिक्खुस्स अंतिए धम्मं । निसम्म म्मं उट्ठाणेणं उट्ठाच वीरा अं
धम्मं स ट्ठिया ते एवं बोवगता, ते एवं बोवरता, ते एवं बोव ता, ते एवं वत्ताई, रि-
निव्वुडे बेमि ।

व्याख्या—इह खलु जगति तस्य भिक्षोर्गुणवतोऽन्तिके—समीपे धर्मं श्रुत्वा [निश्चय्य च] सम्यगुत्थानेनोत्थाय ' वीराः '
कर्मविदारणसहिष्णवो ज्ञानदर्शनचारित्राख्ये मोक्षमार्गे प्राप्ताः सर्वपापस्थानेभ्यो निवृत्ताः सर्वत उपशान्ताः जितकषायतया

शीतलीभूताः, तथा त एवं ' सर्वात्मतया ' सर्वसामर्थ्येन सदनुष्ठाने उद्यमं कृतवन्तो, ये चैवम्भूतास्ते अशेषकर्मक्षयं कृत्वा परिनिर्वाः, अशेषकर्मक्षयं कृतवन्त इति । ब्रवीमीति पूर्ववत् । अथाख्यनोपसंहारार्थमाह—

एवं, से भिक्खू धम्मसद्धी धम्मविज्जु नियागपडिवन्ने, से जहेयं बुइयं अहुवा पत्ते पउमवर-
पुंडरीयं अहुत्ता अपत्ते पउमवरपुंडरीयं । एवं से भिक्खू परिन्नायकम्मे परिन्नायसंगे परिन्नाय-
गिहवासे उवसंते समिए सहिये सया जए, से एवं वयणिज्जे, तं जहा—

व्याख्या—एवं स भिक्षुर्धम्मार्थी यथावस्थितं परमार्थितो]र्थ(?) धम्मं सर्वोपाधिविशुद्धं जानातीति धम्मवित्, तथा ' नियागः ' संयमो विमोक्षो वा, तं प्रतिपन्नः—नियागप्रतिपन्नः, स चैवम्भूतः पञ्चमपुरुषजातः, तं चाऽऽश्रित्य तद्यथेदं प्राक् प्रदर्शितं, तत्सर्वमुक्तं, स च प्राप्तो वा स्यात् पञ्चवरपौण्डरीकमनुग्राह्यं पुरुषविशेषं चक्रवर्च्यादिकं, तत्प्राप्तिश्च परमार्थतः केवलज्ञानानाप्तौ सत्यां भवति, माक्षाद्यथावस्थितवस्तुस्वरूपपरिच्छिन्नेः, अप्राप्तो वा स्यान्मतिश्रुतावधिमनः-पर्यायज्ञानैर्व्यस्तः समस्तैर्वा समन्वितः । स चैवम्भूतो भिक्षुः परिज्ञातकर्मा(दिविशेषणविशिष्टो भवतीत्येतद्दर्शयितुमाह—) म चैवम्भूतो भिक्षुः 'परिज्ञातकर्मा' परिज्ञातकर्मस्वरूपः, परिज्ञातसद्गः, परिज्ञातगृहबासः, तथोपशान्तः, [इन्द्रियनो]-इन्द्रियोपशमाचया समितिभिः समितः, तथा सहितो ज्ञानादिभिः ' सदा यतः ' संयतः, एवंविधगुणकलापोपेत एतद्वचनीयः—म ईदृशः कथ्यते, (तद्यथा—)

मणेति वा माहणेति वा तेति वा दंतेति वा से वा ेति वा इसीति वा ेति वा
तीति वा विदूति वा भिक्खूति वा लूहेति वा तीरद्वेति वा चरण र पारविडि बेमि [सूः १५] ।
बित्थिस्स [य]क् धस्स े डरीयं नाम पढमं उ यणं ।

व्याख्या—स पूर्वोक्तगुणकलापोपेतः किनामा कथ्यते ? श्रमणः तथा ' माहण 'चि ब्र णः, मा प्राणिनो व्यापादयेति
माहनः ब्रह्मचारी वा ब्राह्मणः, शान्तः क्षमोपेतत्वात्, दान्तः इन्द्रिय[नोहन्द्रिय]दमनात्, तिस्रुभिर्गुंसिभिर्गुप्तः, मुक्त इव
मुक्तः, विशिष्टतपश्चरणो महर्षिः, मनुते जगतद्विकालावस्थामिति मुनिः, कृतमस्यास्तीति ' कृती ' पुण्यवान् परमार्थपण्डितो
वा, तथा ' विद्वान् ' सवि[सद्धि]द्योपेतः, तथा ' भिक्षु ' निरवद्याहारतया भिक्षणशीलः, तथा अन्तप्रान्ताहारत्वेन रूक्षः,
संसारतीरभूतो मोक्षस्तदर्थी, तथा चर्यत इति चरणं—मूलगुणः, क्रियत इति करणं—उत्तरगुणास्तेषां ' पारं ' तीरं पर्यन्तगमनं,
तद्वेचीति करणचरणपारवित् । इतिशब्दःपरिसमास्यर्थे, ब्रवीमीति तीर्थकरवचनात् युधम्मस्वामी जम्बूस्वामिनमुद्दिश्यैवं भणतीति ।

इति श्रीपरमसुविहितखरतरगच्छविभूषणपाठकप्रवरश्रीमत्साधुरङ्गगणिवरसन्धुब्धार्था

श्रीमत् कृताङ्गदीपिकायां समाप्तं द्वितीयश्रुतस्कन्धाव्ययनं प्रथमम् ॥

॥ अथ क्रियास्थानाख्यं द्वितीयमध्ययनम् ॥



माम्प्रतं द्वितीयश्रुतस्कन्धे द्वितीयं क्रियाध्ययनं प्रारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तराध्ययने पुष्करिणी-पुण्ड-
रीरूढष्टान्तेन तीर्थिकाः सम्यङ्मोक्षोपायाभावात्कर्मणां बन्धकाः प्रतिपादिताः सत्साधवश्च सम्यग्दर्शनादिमोक्षमार्गप्रवृत्त-
त्वात् कर्मणां मोचकाः सदुपदेशदानतो परेषामपीति, तदिहापि यथा कर्म द्वादशभिः क्रियास्थानैर्बध्यते यथा च त्रयोदशेन
मून्यते तदेतत्पूर्वोक्तमेव बन्धमोक्षयोः प्रतिपादनं क्रियते, तथाहि—

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमवखायं—इह खलु किरियाठाणे नामं अज्झयणे पन्नत्ते,
तस्स णं अयमट्ठे (पन्नत्ते—) इह खलु संजूहेणं दुवे ठाणा एवमाहिज्जंति—धम्मं चेव अधम्मं
चेव, उवसंते चेव अणुवसंते चेव ।

व्याख्या—सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमुद्दिश्येदमाह—श्रुतं मया आयुष्मता भगवतैवमाख्यातं—इह खलु क्रियास्थानं
नामाध्ययनं भवति, तस्य चायमर्थः इह खलु 'संजूहेणं'ति सामान्येन संक्षेपेण च द्वे स्थाने भवतः । य एते क्रियावन्त-
स्ते सर्वेऽप्यनयोः स्थानयोरेवमाख्यायन्ते—धर्मे चैव अधर्मे चैव, इदमुक्तं भवति—धर्मस्थानमधर्मस्थानं च । कारणशुद्ध्या
च कार्यशुद्धिर्भवतीत्याह—उपशान्तं यत्तद्धर्मस्थानं अनुपशान्तमधर्मस्थानं । लोकस्तु प्रायेणाधर्मप्रवृत्तो भवति, पश्चात्स-

दुपदेशयोग्याचार्यसंसर्गाद्धर्मस्थाने प्रवर्त्तते, अतः पूर्वगधर्मस्थानमधिकृत्याह—

तत्थ णं [जे से] पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे, तस्स णं अयमट्ठे [पणत्ते]—
इह खलु पाईणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा भवंति, [तं जहा]—

व्याख्या—तत्र प्रथमस्य अधर्मपक्षस्य ' विभंगो ' विचारस्तस्यायमर्थ इति । ' इह जल्ल ' इह अस्मिन्नगति ' खल्ल ' निश्चितं प्राच्यादिदिक्षु मध्ये अन्यतरस्यां दिशि ' सन्ति ' विद्यन्ते एके केचन मनुष्यास्ते चैवम्भूता भवन्तीत्याह—

+आयरिया वेगे अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे हस्समंता वेगे, सुवन्ना वेगे दुब्बन्ना वेगे, सुरूवा वेगे दुरुवा वेगे, तेसिं च णं इमं एयारूवं दंडसमादाणं संपेहाए । तं जहा—नेरईएसु[वा]× तिरिक्खजोणीएसु माणुसेसु देवेसु जेयावन्ने तहप्पगारा पाणा चिन्न[विन्नु] वेयणं वेयंति, तेसिं पि य णं इमाइं तेरस किरियाठाणाइं भवंतीतिमक्खायं, तं जहा—अट्टादंडे १,

+ सर्वास्वपि धीपिकाप्रतिषु ' आयरिया ' इति पाठो लेखकप्रगाहजः सम्भाव्यते, गुद्वितासु सद्यतिकप्रतिषु ' आरिया ' इत्येषोपलभ्यते, योऽर्थदृष्ट्या युक्त आभाति । × गुद्वितासु सद्यतिकप्रतिष्वेते चत्वारोऽपि पदा ' या ' शब्दान्ताः सन्ति, परं धीपिका-प्रतिषु यन्नेवं एषोऽपि लेखकदोष एव सम्भाव्यते ।

अण्हादंडे २, हिसादंडे ३, अकम्हादंडे ४, दिट्ठीविपरियासियादंडे ५, मोसवत्तिए ६, अदिन्नादा-
णवत्तिए ७, * अज्झत्तिथए ८, माणवत्तिए ९, मित्तदोसवत्तिए १०, मायावत्तिए ११, लोभवत्तिए

१२, इरियावत्तिए १३ । [सू० १]

व्याख्या—एके आर्या एके अनार्याः भवन्ति, यावद्दूरूपाः सुरूपाश्चेति । तेषामार्यादीनामिदं-वक्ष्यमाणमेतद्रूपं
'दण्डः' पापोपादानमङ्गल्पस्तस्य 'समादानं' ग्रहणं 'संपेहाए'त्ति सम्प्रेक्ष्य, तच्चतुर्गतिकानामन्यतमस्य भवति,
तद्यथा-नारकादिषु, ये चान्ये तथाप्रकारास्तद्भेदवर्तिनः सुवर्णदुर्वर्णादयः प्राणिनो विद्वांसो 'वेदना' ज्ञानं, तद्वेदयन्त्यनु-
भवन्ति, यदिवा सात्त्वामावरूपां वेदनामनुभवन्तीति, अत्र चत्वारो भङ्गास्तद्यथा-संज्ञिनो वेदनामनुभवन्ति विदन्ति च १,
भिद्वास्तु विदन्ति नानुभवन्ति २, असंज्ञिनोऽनुभवन्ति न विदन्ति ३, अजीवास्तु न विदन्ति नानुभवन्ति ४ । इह पुनः
प्रथमवृत्तीयाभ्यामधिकारो, द्वितीयचतुर्थीवत्स्तुभूताविति । 'तेषां च' नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवानां तथाविधज्ञानवतां
'इमानि' वक्ष्यमाणलक्षणानि त्रयोदश क्रियास्थानानि भवन्ति, एवमाख्यातं तीर्थकरणघरादिभिरिति । कानि ? पुन-

* यद्यपि सटीकमुद्रितप्रतिष्वत्र परत्र च सर्वत्रापि 'अज्झत्थवत्तिए' इत्येकरूप एव पाठोऽस्ति, परं वीपिकाप्रतिषु समग्रास्वप्यत्र
'अज्झत्तिथए' इत्येवमुपलभ्यते, वृत्तिकृताऽपि 'आत्मन्यव्यव्यात्मं-तत्र भव आध्यात्मिकः' इत्येवमर्थो विहित अतो
वीपिकापाठः युक्त इत्याभाति ।

स्तानीति दर्शयति- 'तं जहे'त्यादि, तद्यथा-'आत्मार्थाय' स्वप्रयोजनकृते दण्डो-^२र्थदण्डः-पापोपादानं १, तथाऽनर्थदण्ड इति निष्प्रयोजनमेव सावद्यक्रियाऽनुष्ठानमनर्थदण्डः २, तथा हिंसा-प्राण्युपमर्दरूपा, तथा-दण्डो हिंसादण्डः ३, तथा-^४ऽकस्माद्दण्डः (१) अनुपयुक्तस्य [दण्डः] अकस्माद्दण्डः, अन्यस्य क्रियाऽन्यस्य व्यापादनम् ४ । तथा दृष्टेर्विपर्यासो रज्ज्वामिव सर्पबुद्धिः, तथा दण्डो दृष्टिविपर्यासदण्डस्तद्यथा-लेण्टुकाष्ठादिबुद्ध्या शराद्यभिघातेन चटकादिव्यापादनम् ५, तथा मुषावादप्रत्ययिकः, स च सञ्ज्वतनिह्नुवासञ्ज्वतारोपणरूपः ६, तथा अदत्तस्य परकीयस्य ग्रहणं स्तैन्यं, तत्प्रत्ययिको दण्डः ७, तथाऽध्यात्मदण्डो-निर्निमित्तमेव दुर्मना उपहतमनःसंकल्पो हृदयेन दूयमानश्चिन्तासागरावगाढः संतिष्ठते ८, तथा जात्याद्यष्टमदस्थानोपहतमनाः परावहेलारूपस्तस्य मानप्रत्ययिको दण्डो भवति ९, तथा मित्राणामुपतापेन दोषो मित्रदोष-^{१०}स्तत्प्रत्ययिको[दण्डो] भवति १०, तथा 'माया' परवञ्चनबुद्धिस्तया दण्डो माया[प्रत्ययिको] दण्डः ११, तथा लोभप्रत्ययिको-लोभनिमित्तो दण्ड इति १२, तथा पञ्चसमितित्रिगुप्तिभिरुपयुक्तस्यैर्याप्रत्ययिकः सामान्येन कर्मबन्धो भवति १३, एतच्च त्रयोदशं क्रियास्थानमिति । अथानुक्रमेण क्रियास्थानानि व्याख्यानयति—

पढमे दंडसमादाणे अट्टादंडवत्तिएत्ति आहिअइ, (+ तं जहा—) से जहा नामए केइ पुरिसे आयहेउं वा णाइहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा मित्तेहेउं वा णागहेउं वा भूयहेउं वा

十 नास्ति बहुष्वदर्शेष्वयं पा योदशस्वपि क्रियास्थानसूत्रेषु ।

जम्बूद्वेडं वा तं दंडं तस्यथात्रेहि पाणेहि सयमेव निसिरति अण्णेण [वि] निसिरावेति अन्नं पि निसिरंतं समणुजाणति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जति, पढमे दंडसमादाणे अट्टादंडत्तिए आहिए ॥ [सू० २]

ब्राह्म्या—यत्रयममृपाचं दण्डममादानमर्थाय दण्ड इत्येवमाख्यायते । तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः, पुरुषग्रहणेन सर्वोऽपि चातुर्गनिकः प्राणी, आन्मनिमित्तं ज्ञानिनिमित्तं तथा गृहनिमित्तं परिवारो-दासीकर्मकरादिकस्त्वन्निमित्तं, तथा मित्रनागभृत-यश्चनिमित्तं तथाभूतं स्वपरोपवानरूपं दण्डं त्रमस्यात्रेषु प्राणेषु स्वयमेव ' निसृजति ' निक्षिपति-उपतापयति प्राण्युपमर्द्द-ज्ञाग्नीं क्रियां करोति, तथाऽन्येन कारयति, तथा परं दण्डं निसृजन्तं समनुजानीते । एवं कृत्कारितानुमतिभिः कर्म-मन्त्रन्वो मन्त्रि, तदर्थेदण्डप्रत्ययिकं प्रथमं क्रियास्थानमाख्यातमिति ।

अहात्रे दोच्चे दंडसमादाणे अणट्टादंडवत्तिएत्ति आहिज्जति । तं जहा-से जहा नामए केइ पुरिसे ने इमे तस्सा पाणा भवंति, ते णो अच्चाए णो अजिणाए णो मंसाए णो सोणियाए, एवं हियवाए पिन्नाए वसाए पिच्छाए पुच्छाए वालाए सिंगाए विसाणाए दंताए दाढाए णहाए ण्हान्णीए अट्टीए अट्टिमंजाए णो हिंसिसु मेत्ति णो हिंसंति मेत्ति णो हिंसिस्संति मेत्ति, णो

पुत्रपोसणयाए गो पमुपोसणयाए गो अगारपरिवृहणानाए नो समणसाहणवत्तणाहेउं नो तस्स
 सरीरस्स किंचि विपयियदित्ता भवंति । सं हंता छंत्ता भंत्ता लुंपइत्ता विटुंपइत्ता उद्ववइत्ता
 उच्चिइउं बाले वेरस्स आभागी भवन्ति अणट्टादंडे ।

न्याख्या — अथापर द्वितीयं दण्डमसादानं] अर्थदण्डप्रत्ययकं श्रमशीयते । न यथा नाम कश्चिन्प्रकारः + ये कंचन
 ‘असी’ संसारान्तरांशिनः प्रत्यक्षाच्छायादयः प्राणिनस्त्वोशायो हनन् ‘नो’ नैव अर्थायै हिनस्ति, तथा नो ‘अजिनाय’ चसोण,
 नापि सोमशोणितहृदयपिचवयापिच्छपृच्छवान्कथुह्मनिपाणनखस्त्वान्कथुस्थिमित्रा हन्यत्समादिकं कारणमुद्दिश्य, नैवाहि-
 म्पिपुनोपि हिनस्ति नापि हिनस्यन्ति सां सदीयं चेति । तथा नो पृत्रपोषणाय—पृत्रं पोषयित्वापीन्यतदपि कारणमुद्दिश्य न
 न्यायादयति, तथा नापि पञ्चनां पोषणाय, तथा ‘असार’ पृहं, × न तदर्थं हिनस्ति, तथा न अमणझाणवनेताहेतु, तथा
 यत्तेन पात्रयितुमारब्धं नो तस्य असीरस्य क्रिमसपि परित्राणाय तन्प्राणित्यपरोपणं वयति, हन्येवसादिकं कारणमनादृत्येयामो
 क्रीडया व्यमनेन वा प्राणिनां हन्ता वयति दण्डादिसः, छेत्ता वयति कर्णनामिकादिविकर्त्तनतः, तथा भेत्ता—अन्नादिना तथा
 लुप्तपयिताऽन्यतराङ्गायवधिकर्त्तनतस्तथा विलुप्तपयिता चक्षुष्पाटनचर्षेविकर्त्तनकरपादादिच्छेदनतः परमाथास्मिकवन्प्राणिनां

+ “ निर्निमित्तमेव निर्बिचकतया प्राणिनो हिनस्ति, तत्रैव चर्षयितुपाह—” इति वृ० वृ० । × “ तस्य ‘परिवृहणा’ वृद्धिः ”
 इति वृ० ।

निर्निमित्तमेव नानाविधोपायैः पीडोत्पादको भवति, तथा जीवितादप्यप्रद्रावयिता भवति । म च + बालोऽसमीक्षितकारितया
 जन्मान्गानुबन्धिर्धरस्याभागी भवति । तदेवं निर्निमित्तमेव पञ्चेन्द्रियप्राणिपीडनतो यथाऽनर्थदण्डो भवति तथा प्रतिपादितं,
 अघुना स्थाव्रानधिऋत्योच्यते—

से जहानामए केइ पुरिसे जे इमे थावरा पाणा भवंति, तं जहा—इक्कडाइ वा कडि(कडि)णाइ
 वा जंतुगाइ वा परगाइ वा मोक्खाइ वा तणाइ वा कुसाइ वा कुच्छगाइ वा पप्प[पव]गाइ वा
 पलालएइ वा, ते णो पुत्तपोसणयाए नो पसुपोसणयाए नो अगारपरिवूहणयाए नो समणमाहण-
 पोसणयाए नो तस्स सरीरगस्स किंचि वि परियाइत्ता भवति । से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता
 विळुंपइत्ता उद्वइत्ता उज्झिउं वाले वेरस्सं आभागी भवति अणट्टादंडे ।

व्याख्या—म यथा नाम कश्चित्पुरुषो निर्विवेकः प[थि]रि(?) गच्छन् [निर्निमित्तमेव] वृक्षादेः पल्लवादिकं दण्डादिना
 प्रध्वंमयन् फलनिरपेक्षस्तच्छीलतया व्रजति, एतदेव दर्शयति—ये केचनामी—प्रत्यक्षाः स्थावरा वनस्पतिकारिकाः प्राणिनो
 भवन्ति तद्यथा—‘इक्कडा’दयो वनस्पतिविशेषाः सुगमार्थाः । तदिहेयमिक्कडा, ममानया प्रयोजनमित्येवमभि[सं]धाय न

+ “ मद्धिवेकमुऽज्झिवाऽऽस्मान वा परित्यज्य बालवद्वाल”इति वृ० वृत्तो ।

छिनत्ति, केवलं तत्पत्रपुष्पफलादिनिरोक्षस्तच्छीलतयेत्येतत्सर्वत्रानुयोजनीयमिति । तथा न पुत्रपोषणाय, न पशुपोषणाय, नागारकार्याय, न श्रमणब्राह्मणप्रवृत्तये, नापि शरीरस्य किञ्चित्परित्राणं भविष्यतीति, केवलमेवमेवासौ वनस्पतिं हन्ता छेत्तेत्यादि यावज्जन्मान्तरानुबन्धिनो वैरस्याभागी भवति । अयं वनस्पत्याश्रयोऽनर्थदण्डोऽभिहितः, साम्प्रतमग्न्याश्रितमाह—

से जहा नामए केइ रिसे कच्छंसि वा दहंसि वा उदगंसि वा दवियंसि वा वलयंसि वा नूमंसि वा गहणांसि वा गहणविदुगंसि वा वणंसि वा वणविदुगंसि वा पवयंसि वा पवयविदुगंसि वा तणाइ ऊसविय २ सयमेव अगणिकायं निसिरति अणणेहिं अगणिकायं निसिरावेति अन्नं पि जाव सस जाणति अणट्टादंडे, एवं खलु तस्स पुरिसस्स तप्पच्चियं साव ति आहि ति । दो दंड-समादाणे अणट्टादंडवत्तिएत्ति आहिए [सू० ३] ॥

व्याख्या—स यथा नाम कश्चित् पुरुषो, निर्विवेकतया* कच्छादिषु दशसु स्थानेषु वनदुर्गपर्यन्तेषु 'तृणानि' कुशई-

* “ कच्छे - नदीजलवेष्टिते वृक्षादिमति प्रदेशे, ह्रदे - प्रतीते, उदके - जलाशयमात्रे, द्रविके - तृणादिद्रव्यसमुदाये, वलये - वृत्ताकार-नद्यादिजलकुटिलगतियुक्तप्रदेशे, नूमे - अवतमसे गहने वृक्षवल्लीसमुदाये, गहनेऽपि दुर्गे - पर्वतैकदेशावस्थितवृक्षवल्लीसमुदाये, वनविदुर्गे - नानाविधवृक्षसमूहे, एतेषु ” इति हर्ष० ।

पिशादीनि पीतःपुन्येनोष्वाग्निःस्थानि कृत्वाऽग्निकायं ' निसृजति ' प्रक्षिपत्यन्येन वा निसर्जयति प्रक्षिपत्यन्यं च निसृजन्तं ममनुजानीते । तदेवं योगत्रिकेण तस्य यत्किञ्चनकारिणस्तत्रत्ययिकं-द्वदाननिमित्तं ' सावधं कर्म ' महापातकमाख्यातम् । एतच्च द्वितीयमनर्थदण्डममादानमाख्यातमिति तृतीयमधुना व्याख्याति—

अहावरे तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिष्ति आहिज्जति । से जहा नामए केइ पुरिसे ममं वा ममिं वा, अन्नं वा अन्नं वा, हिंसिसु वा हिंसति वा हिंसिस्सति वा, तं दंडं तसथावरेहिं पाणेहिं सयमेव निसिरति जात्र अन्नंपि समणुजाणति हिंसादंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तिं सावज्जंति आहिज्जति । तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिष्ति आहिते [सू० ४] ॥

व्याख्या—' अहावरे ' इति, अथापरं तृतीयं दण्डममादानं हिमादण्डप्रत्ययिकमाख्यायते—म यथा नाम कश्चित् 'पुरुषः' पुरुषाकारं वहन्, स्वतो मरणभीरुतया वा मामयं धातयिष्यतीत्येवं मत्वा कंमवदेवकीसुतान् भावतो जघान, मदीयं वा पितरमन्यं वा ' मामकं ' ममीकारोपेतं परशुभामत्रत् कार्त्तवीर्यं जघान, अन्यं वा कञ्चनायं सर्पसिंहादिव्यापादयिष्यतीति मत्वा सस्पर्षादिकं व्यापादयति, अन्यदीयस्य वा कस्यचिद्धिरण्यपश्चादेरयमुद्रवकारीति कृत्वा तत्र दण्डं निसृजतीति । तदेवमयं मां मदीयमन्यमन्यदीयं वा हिंसितवान् हिनस्ति हिंसिष्यतीत्येवं सम्भाविते त्रसे स्थावरे वा ' तदण्डं ' प्राणव्यपरोपणलक्षणं स्वयमेव निसृजति अन्येन निसर्जयति निसृजन्तं वाऽन्यं समनुजानीते, इत्येतत्तृतीयं दण्डसमादानं हिंसा-

दण्ड प्रत्ययिकमाख्यात्वमिति ।

अहावरे चउत्थे दंडसमादाणे अकम्हा [अकस्मात्*] दंडवत्तिए [ति] आहिज्जाति । से जहा नामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा जाव वणविदुगंसि वा मियवित्तिए मियसंकप्पे मियपणिहाणे मियवहाए गंता, एए मिएत्ति काउं अन्नयरस्स मियस्स वहाए उंसुं आयामेत्ता णं णिसिरेजा, से मियं वहिस्सामीति कहु तित्तिरं वा वट्टगं वा [लावगं वा कवोतगं वा कविं वा कविंजलं वा विंथेत्ता भवति । इह खलु से अन्नस्स अट्टाए अन्नं फुसति अकम्हादंडे ।

व्याख्या—अथाऽपरं चतुर्थं दण्डसमादानमकस्माद्दण्डप्रत्ययिकमाख्यायते—तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषो लुब्धकादिकः कच्छे वा यावद्ब्रह्मदुर्गे वा गत्वा 'मृगै' राटव्यपशुभिर्वा वृत्तिर्यस्य म मृगवृत्तिकः, स चैवम्भूतस्तथा मृगसङ्कल्पः, मृग-प्रणिधानः—क मृगान् द्रक्ष्यामीत्येतदध्यवसायी सन् मृगवधार्थं कच्छादिषु गन्ता भवति, तत्र च गतः सन् दृष्ट्वा [मृगान्ते] मृगा इत्येवं कृत्वा तेषां मध्ये अन्यतरस्य मृगस्य वधार्थं 'इषुं' शरं आयामेन समाकृत्य मृगमुद्दिश्य निसृजति । स चैवं

* "इह चाकस्मादित्यर्थं शब्दो मगधचेष्टे सर्वेणाप्याबालगोपालाङ्गनादिना सस्कृत एवोच्चार्यत इति तदिहापि तथाभूत एवो-
चरित इति" इ० वृत्तौ ।

मङ्गलो भवति-यथाऽहं मृगं वनिष्यामि, इतीपुं निक्षिप्तवान्, स च तेन इषुणा तित्तिरादिपक्षिविशेषं व्यापादयिता भवति, तदेतं मन्त्रमान्यस्यार्थाय निक्षिप्तो दण्डो यदन्यं 'स्पृशति' घातयति सोऽकस्माद्दण्ड इत्युच्यते । अधुना वनस्पतिमुद्दिश्या-
कस्माद्दण्डमाह—

से जहा नामए केड पुरित्से सालीणि वा वीहीणि वा कोद्ववाणि वा कंगूणि वा परगाणि वा
रालाणि वा णित्ति[णिलि]ज्जमाणे अन्नयरस्स तणस्स वहाए सत्थं निसिरेज्जा, से सामगं तणगं
मुकुंद[कुमुदु]गं वीहीऊसियं कलेसुयं तणं छिदिस्सामित्ति कहु सालिं वा वीहिं वा कोद्वं वा कंगुं
वा परगं वा रालगं वा छिदित्ता भवति, इति खलु से अन्नस्स अट्टाए अन्नं फुसति अकम्हादण्डे,
एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जति । चउत्थे दंडसमादाणे अकम्हादंडवत्तिएत्ति
आहिते ॥ [सू० ५]

व्याख्या—स यथा नाम कश्चित्पुरुषः कृपीवलादिः शाल्यादेर्धान्यजातस्य श्यामादिकं तृणजातमपनयन् धान्यशुद्धिं
कृषीणः मन्त्रन्यतरस्य तृणजातस्यापनयनार्थं शस्त्रं दात्रादिकं-निस्तुजेत्, स च श्यामादिकं तृण छेत्स्यामीति कृत्वा अकस्माच्छालि
वा यावद्दालकं वा छिन्द्यान्, रक्षणीयस्यैव धान्यस्य अकस्माच्छेत्ता भवतीत्येवमन्यस्यार्थाय अन्यकृतेऽन्यं वा 'स्पृशति'

छिनत्ति, तदेवं खलु तत्कर्तुस्तत्प्रत्ययिक-मकस्माद्दण्डनिमित्तं ' सावधं ' पापमाधीयते-सम्बध्यते, तच्चतुर्थं दण्डसमादान-मकस्माद्दण्डप्रत्ययिकमाख्यातमिति ।

अहावरे पंचमे दंडसमादाने दिट्टीविप्परियासिया दंडवत्तिष् आहिज्जति । से जहा नामए केइ पुरिसे माईहिंवा पीईहिं वा भाईहिं वा भइणीहिं वा भज्जाहिं वा पुत्तेहिं वा धूयाहिं वा सुणहाहिं वा सच्चिं संवसमाणे मित्तं अभित्तमि[ति]व माणे मित्ते हयपुव्वे भवति दिट्टीविप्परियासियादंडे ।

व्याख्या—अथाऽनन्तरं पञ्चमं दण्डसमादानं दृष्टिविपर्यसदण्डप्रत्ययिकमाख्यायते-तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषश्चारभटादिको मारुपिव्भ्रावृमगिनीभार्यापुत्रपुत्रिकास्तुषादिभिः सार्द्धं [सं]वसंस्तष्ठन् ज्ञातिपालनकृते मित्रमेव दृष्टिविपर्यसादमित्रोऽयमित्येवं मन्यमानो ' हन्यात् ' व्यापादयेत्, तेन च दृष्टिविपर्यसवता मित्रमेव हतपूर्वं भवतीत्यतो दृष्टिविपर्यसदण्डोऽयम् । पुनरन्यथा तमेवाह—

से जहा नामए केइ पुरिसे गाम यंसि वा नगर यंसि वा खेड० कब्बड० मंडबघायं वा दोण ह यंसि पट्टणघायंसि वा × आ म० वि वेस० निगम० रायहाणीघायंसि वा अते ।

× " संबाहघायंसि वा " इति हर्ष० । मामादिलक्षणं चेदं—'ग्रामो वृत्त्या वृत्तः स्यान्नगरवृत्तुर्गोपुरोद्भासिधोमं, खेदं

तेणमिति मद्रमाणे अतेणे हयपुंवे भवति दिट्ठीविप्परियासियादंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जति । पंचमे दंडसमादाने दिट्ठीविप्परियासियादंडवत्तिएत्ति आहिए । [सू० ६] ॥
 व्याख्या—म यथा नाम ऋश्वित्पुरुषः पुरुषाकारमुद्ग्रहन् ग्रामघातादिके विभ्रमे भ्रान्तचेता दृष्टिविपर्यासादचौरमेव चोरोऽयमित्येवं मन्यमानो व्यापादयेत्, तदेवं तेन भ्रान्तमनसा विभ्रमाकुलेनाचौर एव हतपूर्वो भवति, सोऽयं दृष्टिविपर्यामदण्डस्तदेवं खलु 'तस्य' दृष्टिविपर्यासवत्तत्प्रत्ययिकं सावंधं कर्म्मर्माधीयते । तदेवं पञ्चमं दण्डसमादानं दृष्टिविपर्यासप्रत्ययिकमाख्यायते* ।

अहावरे छट्ठे मोसवत्तिए किरियाठाणे + आहिज्जति—से जहा नामए केइ पुरिसे आयहेउं वा नाइहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा सयमेव मुसं वयति अन्नेणं मुसं वयावेति मुसं वयंतं

नद्यद्विवेपं परिश्रुतममितः कर्षटं पर्वतेन । ग्रामो युक्तं मडम्बद[? क]लितदशशतैः पत्तनं रत्नयोनौ, द्रोणाख्यं सिधुवेला-
 वलयितमथ सम्बाधनं चाद्रिशृङ्गः ॥१॥' इति । आश्रमस्तापसस्थानं, सन्निवेशः—सार्धकटकदिवासः, निगमो—बहुवणिग्वासः,
 राजधानी—राजकुलस्थानम् । " इति हर्ष० । * ख्यात इति ' प्र० । ' ख्यातमिति ' वृ, वृ. ।

+ मुद्रितासु सद्युत्तिकप्रतिषु ' छट्ठे किरियट्ठाणे मोसावत्तिएत्ति ' इत्येवमस्ति, तत्समीचीनं प्रतिभाति, दीपिकाकारेणाप्यर्थं एतत्कमेणैव कृतत्वात् । किञ्च—' किरियट्ठाणे मोसावत्तिए ' इत्यत्र ' किरियाठाणे मोसवत्तिए ' इति सम्यगाभाति ।

श्याख्या—अथापरं मप्तमं क्रियाम्थानमदत्तादानप्रत्ययिकमाख्यायते, एतदपि प्राग्वज्ज्ञेयम् । म यथा नाम कश्चित्पुरुष यान्मनिसितं यान्परित्रागनिसितं [स्वयमेव] परद्रव्यमदत्तमेव गृह्णीयात् अपरं च ग्राहयेत् गृह्णन्तमप्यपरं ममनुजानीया-
दिन्येनं नम्यादत्तादानप्रत्ययिकं कर्म वक्ष्यते । मप्तमं क्रियास्थानमाख्यातमिति ।

अहारे अट्टमे किरियाठाणे अञ्जत्थवत्तिएत्तिआहिज्जति । से जहा नामए केइ पुरिसे णत्थि णं केत्ति किञ्चि विसंवादेत्ति, सयमेव हीणे दीणे दुट्टे दुम्मणे ओहयमणसंकप्पे चिंतासोगसागरसं-
पविट्टे करतलपल्हत्थमुहे अट्टञ्जाणोत्रगए भूमिगयदिट्ठीए श्रियाइ, तस्स णं अञ्जत्थिया असंस-
इया चत्तारि ठाणा एवमाहिज्जंति, तंजहा—कोहे माणे माया लोहे, अञ्जत्थमेव कोहमाणमाया-
लोहे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जति, अट्टमे किरियाठाणे अञ्जत्थिएत्ति
आहिए [सू० १] ॥

श्याख्या—अथापरमष्टमं क्रियाम्थानमाध्यात्मिकमित्यन्तःकरणोद्धवमाख्यायते, मानसिकमित्यर्थः । तद्यथा नाम रुधिरं पुरुषश्चित्तोन्मेषाप्रधानस्तस्य च नास्ति कश्चिद्विसंवादिता—न तस्य कश्चिद्विसंवादेन परिभवेन वाऽसद्भूतोद्धावनेन वा चित्तदुःखमृत्पादयति, तथाऽप्यसौ स्वयमेव नर्णपिण्डवच्चिदीनो दुर्गमत्वदीनो दुश्चित्तया दुष्टो दुर्मनास्तथोपहतोऽस्वस्थतया

मनःसङ्कल्पो यस्य स तथा चिन्ताशोकसागर(सं)प्रविष्टः । तथा करतलपर्यस्तमुखः, तथाऽऽर्त्तध्यानोपगतो—निर्विवेकतया धर्मध्यानाद्हरवर्ती [भूमिगतदृष्टिः] निर्निमित्तमेव द्वन्द्वोपहतवद्भ्यायति, तस्यैवं चिन्ताशोकसागरावगाढस्य सत ' आध्यात्मिकानि ' अन्तःकरणोद्भवानि मनःसंश्रितान्यशंसयितानि वा—निःशंभयानि चत्वारि वक्ष्यमाणानि स्थानानि भवन्ति, तानि वैवमाख्यायन्ते, तद्यथा—क्रोधस्थानं मानस्थानं मायास्थानं लोभस्थानमिति । ते च चत्वारोऽपि कषाया आध्यात्मिकाः, एभिरेव सङ्घर्द्धुष्टं मनो भवति, तदेवं तस्य दुर्मनसः क्रोधमानमायालोभवत एवमेवोपहतमनःसङ्कल्पस्य 'तत्प्रत्ययिकं' अध्यात्मनिमित्तं सावधं कर्म आधोयते—सम्बद्ध्यते, तदेवमष्टमेतत् क्रियास्थानमाध्यात्मिकाख्यमाख्यातमिति ।

अहावरे नवमे किरियाठाणे माणवत्तिष्[त्ति] आहिज्जति । से जहा नामए केइ पुरिसे जातिमएण वा कुलमएण वा बलमएण वा रूवमएण वा सुयमएण वा लाभमएण वा ईसरियमएण वा पन्नामएण वा अन्नतरेण वा मदट्टाणेणं मत्ते समाणे परं हीलेति निंदति खिसति गरहति परिभवति अवमन्नाति, इत्तरिए अयं, अहंमंसि पुण विसिट्ठजाइकुलबलाइ-गुणोववेए, एवमप्याणं समुक्कसे ।

व्याख्या—अथापर नवमं क्रियास्थानं मानप्रत्ययिकमाख्यायते । स यथा नाम कश्चित्पुरुषो जात्यादिगुणोपेतः सन् जातिकुलबलरूपतपःश्रुतलभैश्वर्यप्रज्ञामदारुथैरष्टभिर्मदस्थानैरन्यतरेण वा मत्तः परमवमबुद्ध्या हीलयति तथा निन्दति

त्रुगुप्थने गहति परिगरति, एतानि चैकार्थिकानि । यथा परिभवति तथा दर्शयति—' इतरोऽयं ' जषन्त्यो हीनजातिकस्तथा मन्ः कुलचलरूपादिभिर्द्रुमपभ्रष्टः मर्मजनावगीतोऽयमिति, अहं पुनर्विशिष्टजातिकुलचलादिगुणोपेतः, एवमात्मानं समु-
त्सृजेदिति+ । माभ्रतं मानोऽरुर्षविपाकमाह—

देहा चुए कम्मवितिए अवसे पयाइ, तं जहा-गब्माओ गब्भं जम्माओ जम्मं माराओ मारं
नरगाओ नरगं, चंडे थद्धे चवले माणी आवि भवति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहि-
ज्जति । नवसे किरियाठाणे माणवत्तिए[त्ति] आहिते [सू० १०] ॥

व्याख्या—' देहा चुए 'त्ति, तदेवं जात्यादिमदोन्मत्तः सन्निहैन लोके गहंतो भवति, *जातिमदः कस्यचित्तु कुल-
मशोऽपरस्य हुलमदो न जातिमदः, अपरस्योभयं, अपरस्यानुभयमिति, एवं [पदद्वयेन चत्वारो मङ्गाः] पदत्रयेणाष्टौ, चतुर्भिः
पोऽउजेन्यादि यादष्टभिः पदैः पट्पञ्चाशदधिकं शतद्वयमिति, सर्वत्र मदाभावरूपश्चरमभङ्गः शुद्ध इति । परलोकेऽपि च मानी
दुःस्वभागवतीन्गनेन प्रदर्शयते । स्त्रायुपः क्षये देहाच्छ्रुतो भवान्तरं गच्छन् शुभाशुभकर्मद्वितीयः कर्मपरायत्तत्वादवशः—

X निन्दनीयः । + पक्ष्यमाणः ' तदेव ' मिल्यादितः ' शुद्ध ' इति पर्यन्तः पाठोऽत्रत्य आभाति । ' परलोकेऽपी 'ति वाक्यं
च ' भवती 'त्यग्राप्ते । इति टिप्पणं आगमोद्ययसमितिशुद्धितासु सद्यत्तिकर्मतिषु । ❀ " अत्र च जात्यादिपदद्वयादिसंयोगा द्रष्टव्याः,
ते तेषं भवन्ति " इति गृह्यते ।

परतन्त्रः प्रयाति । त[द्य]थाहि (१) गर्भाद्रग्ने पञ्चेन्द्रियापेक्षं, तथा गर्भादगर्भे विकलेन्द्रियापेक्षं-विकले[न्द्रिये]षूत्पद्यमानः पुनरगर्भाद्रग्ने, एवमगर्भादगर्भे, एतच्च नरककल्पगर्भेदुःखापेक्षया अभिहितम् । उत्पद्यमानदुःखाऽपेक्षया त्विदमभिधीयते-जन्मन एकस्मादपरजन्मान्तरं व्रजति, मरणान्तरान्तरं व्रजति । नरकदेश्यात् श्रयाकादिवासाद्रत्नप्रमादिकं नरकान्तरं व्रजति, यदिवा नरकात्सीमन्तादिकादुद्धृत्य सिंहमत्स्यादाबुत्पद्य पुनरपि तीव्रतरं नरकान्तरं व्रजति । तदेवं नटवद्भ्रूमौ संसार-चक्रवाले स्त्रीपुंनपुंसकादीनि बहून्यवस्थान्तराण्यनुभवति । तदेवं मानी परपरिभवे सति 'चण्डो' रौद्रो भवति परस्या-पकरोति, तदभावे ह्यात्मानं व्यापादयति । तथा स्तब्धश्रपलो यत्किञ्चनकारी, मानी सन् सर्वोऽप्येतदवस्थो भवति । तदेवं मानप्रत्ययिकं सावद्यं भवे च्छद्यते । नवमं [ए]तत्क्रियास्थानमाख्यातं ति ।

हावरे दसमे किरियाठाणे तिदो सिएत्ति आहि ति । हा नामए इ पुरि माईहिं वा पिईहिं वा आईहिं वा इणीहिं वा हिं वा धूयाहिं वा सेहिं वा सुणहाहिं वा स वसमाणे तेसिं अन्नयेरेसिं वा [यरं] । गां वराहंसि यमेव गरुयं दंडं निवसेति । तं हा-सीओदगत्रियंडंसि वा यं उच्छो । भवति, उसिणोदगवियडे वा यं ई चित्ता भवति, गणि ए वा यं उवडाहि । भवइ, ते वा वेत्ते वा णे वा

तथाइ वा कसेण वा छियाए वा लयाए वा पासाइं उदालेत्ता भवइ, डंडेण वा अट्टीण वा सुट्टीण वा लेट्टण वा कचालेण वा कायं आउट्टिता भवति, तहप्पगारे पुरिसजाते संवसमाणे दुम्मणा भवंति, पासमाणे सुमणा भवंति, तहप्पगारे पुरिसजाए दंडगुरुए दंडपुरक्खडे अहिए इमंसिं लोगंसि अहिए परंसि लोगंसि संजलणे कोहणे विट्ठिमंसियावि भवति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं साज्जंति आहिजति, दसमे किरियाठाणे मित्तदोसवत्तिएत्ति आहिते ॥ सू० । ११ ॥

व्याख्या—अथापरं दशमं क्रियास्थानं मित्रदोषप्रत्ययिकमाख्यायते-तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषः प्रभुकल्पो माता-
 पितृसुहृद्भ्राजनादिभिः सार्द्धं परिसंस्तेषां च मातापित्रादीनामन्यतमेनाऽनाभोगतया यथाकथञ्चिच्छुचुतरेऽप्यपराधे वाचिके
 दुर्गनादिके तथा कायिके हस्तपादादिसङ्घट्टनरूपे कृते सति 'स्वयमेव' आत्मना क्रोधाष्मातो गुरुतरं दण्डं दुःखोत्पादकं
 'नेत्रंतेपति' करोति । तद्यथा-शीतोदके 'तस्य' अपराधकर्तुः कायमघो बोलयिता भवति, तथोष्णोदकविक्रानेन कायं
 मिश्रयित्वा भवति, तत्र विरुटपशुगाण्डुण्यतैलेन कौजिकादिना वा कायमुपतापयिता भवति, तथाऽग्निक्वाथेनोल्मुकेन तप्तायसा
 वा कायं उप[दाहयित्वा]तापयिता वा (१) भवति, तथा जो[यो]नेण वा, वेत्त्रेण वा, [नेत्रेण वा] 'त्वचा वा'
 मनादिकृपा लभया वाऽन्यतमेन वा दूररकेण ताडनात् : 'तस्य' अल्पापराधकर्तुः शरीरपार्श्वीणि 'उदालयितुं' चर्मणि
 तुम्पयितुं (प्रस्तुतो) भवति, तथा दण्डादिना कायमुपताडयिता भवति, तदेवमल्पापराधिन्यपि महाक्रोधदण्डवति तथा-

प्रकारे पुरुषजाते एकत्र-वमति सति तत्सहवासिनो मातापित्रादयो दुर्मनमस्त्वदनिष्टाशङ्कया भवन्ति, तस्मिंश्च देशान्तरं गच्छति तत्सहवासिनः सुमनसो भवन्ति । तथाप्रकारश्च पुरुषजातोऽल्पेऽप्यपराधे महान्तं दण्डं कल्पयतीति, तदेव दर्शयति-दण्डपार्थी स्वल्पेऽप्यपराधे कुप्यति दण्डं च पातयति, दण्डेन गुरुको भवति, तथा दण्डपुरस्कृतः-सदा पुरस्कृतदण्ड इत्यर्थः । स चैवम्भूतः 'अस्मिंल्लोके' अस्मिञ्जन्मनि अहितः प्राणिनामहितदण्डापादनात्, तथा परस्मिन्नपि जन्मन्य-सावहितः, येनकेनचिन्निमित्तेन क्षणे क्षणे सञ्ज्वलतीति सञ्ज्वलनः, स चात्यन्तक्रोधनो वधबन्धुविच्छेदनादिषु शीघ्रमेव क्रियासु प्रवर्तते, तदभावेऽप्युत्कटद्वेषतया समोद्विषट्टनतः पृष्ठिमौममपि खादेत्तदसौ ब्रूयाद्येनासौ परः सञ्ज्वलति, तदेवं तस्य महादण्डप्रवर्तयितुस्तददण्डप्रत्ययिकं सावधं कर्म बध्यते, तदेतद्दृश्यं क्रियास्थानं मित्रद्रोहप्रत्ययिकमाख्यातमिति X ।

अहावरे एकारसमे किरियाठाणे मायावत्तिष्ति आहिज्जति, जे इमे वंति गूढायारा त णी-
 कासिया उल्लूगपत्त हुया यगुरु ।, ते आरिया वि संता णारियाओ भा । णं वि प्पउज्जंति,
 अ हा संता अप्पाणं ब्रहा म ण्ति, अन्नं पुट्टा + वागारंति, इवि यवं

X " अन्ये पुनरष्टमं क्रियास्थानमात्मदोषप्रत्ययिकमाचक्षते, नवमं तु परदोषप्रत्ययिकं, दशमं पुनः प्राणवृत्तिकमिति " हर्षकुलः ।
 + यद्यपि दीपिकाप्रतिषु सर्वास्वपि 'अन्न पुण कुणंति अन्नं' इत्येवरूपः पाठोऽस्ति मूले, परं सवृत्तिकमुद्रितप्रतिषु 'अन्नं अन्नं' इत्येवम्भूतोऽस्ति, अर्थो दीपिकायामल्येवविध एव विहित इत्ययमेव मूले निवेशितः ।

आइक्खंति ।

व्याख्या—अथापरं एकादशं [मायाप्रत्ययिकं] क्रियास्थानमाख्यायते—ये केचनामी भवन्ति पुरुषाः गूढाचाराः गलकत्तैकप्रन्यिच्छेदादयस्ते च नानाविधैरुपायैर्विश्रम्भमुत्पाद्य पश्चादपकुर्वन्ति, प्रद्योतादेरभयकुमारादिवत्, ते च मायाशील-
त्वेनाप्रकाशचारिणः । तमःकापिणः—पराविज्ञाताः क्रियाः कुर्वन्ति, ते च स्वचेष्टैव ' उल्लूकपत्रवल्लुधवः ' कौशिकप[श्च]-
त्रवल्लुधवीयांसोऽपि पर्वतत्रदुगुरुमात्मानं मन्यन्ते, यदिवाऽकार्यप्रवृत्तेः पर्वतवन्नो स्तस्मयितुं शक्यन्ते, ते चार्यदेशोत्पन्नाः
मन्तः धूर्त्तप्राया आत्मप्रच्छादनार्थमपरमयोत्पादनार्थं वा अनार्यभाषाः प्रयुज्यन्ते, परव्यामोहार्थं स्वमतिपरिकल्पितभाषाभिर-
पराविदिताभिर्मापन्ते, तथाऽन्यथा वा व्यवस्थितमान्मानमन्यथा—माध्वाकारेण मन्यन्ते व्यवस्थापयन्ति च, तथाऽन्यत्पृष्टा
मातृस्थानतोऽन्यदाचक्षते, यथाऽऽप्राञ्च पृष्टाः कोविदोरकान्—आचक्षते, वादकाले वा कश्चिन्नयायवादितया व्याकरणे
[पृष्टे] प्रवीण [प्रवर्ण] स्त(१)र्कमार्गमवतारयति, तथाऽन्यस्मिन्मार्थे कथयितव्येऽन्यमेवार्थमाचक्षते । तेषां च सर्वार्थ-
विमंत्रादिनां ऋष्यप्रपञ्चचतुराणां विपाकोक्तावनाय दृष्टान्तं दर्शयितुमाह—

से जहा नामए केइ पुरिसे अंतोसल्ले, तं सल्लं नो सयं णीहरति नो अन्नेणं वीहरावेइ नो
पडिचिद्धंसेति, एवमेव निणहवेइ, अविउट्टमाणे अंतो अंतो झि[रि]याति, एवमेव माई मायं कट्टु णो

+ ' कोविदारो—युगपत्रः ' इति हेमवचनाद्धनस्पतिः ' ऋचनार ' इति लोके ।

लोएति नो पडिक्कमति नो निंदइ नो गरिहइ नो विउट्टति नो विसोहेइ नो अकरणयाए अब्भुट्टेइ
नो अहारिहं ओक्कमं यच्छित्तं पडिव ति, माई अस्सिं ओए प ायाति माई परंसि ओए
[पुणो णो] ायाति । निंदइ गरिहइ पसंसइ णि रति, णो नियट्टति णिसिरियं दंडं ाएति
थी अस हड हलेस्से आवि भवति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जति । एक्कार-
समे किरियाठाणे यावत्तिष्णि ाहिए ॥ सूत्र १२ ॥

व्याख्या—' से जहे 'त्यादि, तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः सङ्ग्रामादपक्रान्तोऽन्तःसशल्यः, शल्यषट्पुनवेदनामीरु-
तया तच्छल्यं न स्वतो निर्हरति-अपनयति नोद्धरति, नाप्यन्येनोद्धारयति नापि तच्छल्यं वैद्योपदेशेनौषधोपचारयोगादिभिरु-
पायैः प्रश्वंसयति, अन्येन केनचित् शोऽपृष्टो वा तच्छल्यं ' एवमेव ' नःप्रयोजनमेव निहनुते-अपलपति, तेन च शल्येना-
सावन्तर्वर्तिना ' अविउट्टमाने ' चि पीडयमानः ' अन्तो अन्तो ' मध्ये मध्ये पीड्यमानोऽपि ' रीयते ' व्रजति, तत्कृतां
वेदनामधिसहमानः क्रियासु प्रवर्तते । साम्प्रतं दार्ष्टान्तिकमाह—' एवमेवे ' त्यादि, यथाऽसौ सशल्यो दुःखमागू भवत्येव
मेवासौ ' माथी ' मायाशल्यवान् यत्कृतमकार्यं तन्मायया निगूहयन्मायां कृत्वा न तां मायामन्यस्मै ' आलोचयति '
कथयति नापि तस्मात् स्थानात् प्रतिक्रामति-न ततो निवर्तते, नाप्यात्मसाक्षिकं तन्मायाशल्यं निन्दति, तद्यथा-
धि . i !! यदहमेवम्भूतमकार्यं कर्मोदयात्कृतवान् । नापि परसाक्षिकं ' गर्हति ' आलोचयति नापि च जुगुप्सते तथा

'नो विउदुहः' इति नापि तन्मायाश्रयं त्रिभोटपति, अपुनःकरणतया न निवर्तयतीत्यर्थः । + [नापि तन्मायाऽऽदिकमकार्यं
 भेरित्वाऽऽनोचनार्हायाऽऽत्मानं निवेद्य तदकार्याकरणतयाऽभ्युत्तिष्ठते, प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यापि नोद्युक्तविहारी भवतीत्यर्थः ।
 तथा नापि गुर्वादिभिरभिधीयमानोऽपि यथाऽहंमकार्यनिर्वहणयोग्यं प्रायश्चित्तं-शोधयतीति प्रायश्चित्तं तपःकर्म विशिष्टं
 चान्द्रायणाद्यात्मकं 'प्रतिपद्यते' अभ्युपगच्छति ।] नो यथायोग्यं प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यते, तदेवं मायया सत्कार्यप्रच्छाद-
 कोऽस्मिन्नेत्र लोके मायावीत्येवं सर्वकार्येष्वेवाविश्रम्भणत्वेन 'प्रत्यायाति' प्रख्यातिं याति, तथाभूतश्च सर्वस्याविश्वा[स्यो]-
 नो (१) भवति । तथाऽतिमायावित्त्वादसौ परलोके मन्त्राघमेषु यातनास्थानेषु नरकतिर्यगादिषु पौनःपुन्येन प्रत्यायाति-
 भूयोभूयस्नेपेन्वारघट्टघटीन्यायेन प्रत्यागच्छति । तथा नानाविधैः प्रपञ्चैर्वञ्चयित्वा परं 'निन्दति' जुगुप्सते, तद्यथा-
 अयमवो मूलः पशुरूषो, नानेन किमपि प्रयोजनमित्येवं परं निन्दति आत्मानं प्रशंसयति, तथाऽऽत्मप्रशंसया
 तुण्यति, एवं चामौ लब्धप्रपरोऽधिकं तथाविधानुष्ठायी भवति । निश्चरति-तस्मान्मावस्थानान्न निवर्तते । तथाऽसौ मायया
 'दण्डं' प्राणुपमर्दकारिणं 'निसृज्य' पातयित्वा पश्चाच्छादयति-अपलपति अन्यस्य[वा]उपरि प्रक्षिपति । स च मायावो
 मर्दा वञ्चनपरायणः संस्तन्मनाः मर्दानुष्ठानेऽप्येवम्भूतो भवति- 'अममाहता' अनङ्गीकृता शोभना लेइया येन स तथा,
 आर्षध्यानोपहततया अशोभनलेइय इत्यर्थः । तदेवमपगतघर्मध्यानोऽपममाहितोऽशुद्धलेइयश्चापि भवति । तदेवं तस्य
 मायाश्रयप्रत्ययिकं मात्रद्यं कर्माधीयते, तदेतदेकादशं क्रियास्थानं मायाप्रत्ययिकं व्याख्यातम् ।

+ [] नास्त्येतच्चिह्नान्तर्गतपाठः प्रत्यन्तरेषु ।

अहावरे बारसमे किरिय णे भवत्तिए णि ते-जे इमे वंति, [हा-] आरा
 आवसहिया गामंतिया हुई राहस्सिया नो बहुसंजया नो बहुपडिविरया सवपाणभूयजीव-
 सत्तेहिं, ते अप्पणा सच्चामोसाइं एवं वि[प]उंजति-अहं न हंतवो हं ।, अहं न वियवो अ
 अजावेय , अहं न रे वो द्वे परिघेत्तवा, हं न परितावेयवो परितावेयवा, अहं न
 उद्वेय अ उद्वेयवा, एवामेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गहिया गरहिया अज्झोव ।
 जाव वासाइं चउपंचमाइं छहसमाइं प्ययो वा मुज्जयो वा मुंजित्तु [भोग]भोगाइं मा
 कालं । अन्नयरे आसुरिएसु किब्बिसिए ठाणे उवव णो भवंति । ततो विप्पसु ।
 जो सु । एलमूयत्ताए तमूयत्ताए तिमूयत्ताए यंति, एवं खलु तस् तप्पियं । ति
 आहिज्जति, दुवा समे किरियाठाणे भवत्तिएत्ति आहिए । इ. याइं स रिथाणाइं
 दविएणं समणेणं वा माहणेणं समं परि णियवाणि वंति ॥ [सू. १३] ॥

व्याख्या—अथ द्वादशं क्रियास्थानं लोमप्रत्ययिकमाख्यायते, [तद्यथा]-य इमे वक्ष्यम । अरण्ये वसन्त्यारण्य स्ते

च तन्मूलरुन्नाहाराः मन्तः केचन दृक्मूले व्रमन्ति, केचन 'आवसधेषु' शूद्र(षूड)वा[उटजा]कारेषु गृहेषु, तथाऽपरे
 ग्रामादिरुमृपत्रीग्नौ ग्रामममीपे व्रमन्तीति ग्रामान्तिकाः, क्वचि(कदाचि)त्कार्ये मण्डलप्रवेशादिके रहस्वं येषां ते राहसिकास्ते
 च 'न बहुमंगताः' न सर्वमात्रद्यानुष्ठानेभ्यो विरता, एतद्रुक्तं भवति-न बाहुल्येन त्रसेषु दण्डसमाऽरम्भं विदधति,
 पंक्तियोगोपत्रीमिनन्त्रविगानेन तापमादयो भवन्ति, तथा 'न बहुविरता' न सर्वेष्वपि प्राणातिपातविरमणादित्रतेषु
 रत्नैः, किन्तु द्रव्यतः कतिपयव्रतवर्त्तिनो, न मात्रतो, तत्कारणस्य सम्यग्दर्शनस्याभावादित्यभिप्रायः । इत्येतदेवाऽऽ-
 भिर्मात्रयितुमाह-'सब्वपणे'त्यादि, ते ह्यारण्यकादयः सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वैभ्य 'आत्मना' स्वतोऽविरताः- तदुपमर्दकादा-
 रम्भादविरता इत्यर्थः । ते पापण्डिका आत्मना बहूनि स(त्य)ल्यासृयाभूतानि वाक्यानि 'एवं' वक्ष्यमाणनीत्या विशेषेण
 प्रयुञ्जन्ति, यद्विरा मत्यान्यपि तानि प्राणुपमर्दकत्वेन सृयाभूतानि स(त्य)त्यासृयाणि, एवं ते प्रयुञ्जन्तीति दर्शयति, तद्यथा-
 अहं ब्राह्मणत्वात् हन्तव्योऽन्ये तु शूद्रत्वाद्भन्तव्याः, तथाहि तद्वाक्यं-'शूद्रं व्यापाद्य प्राणायामं +जपेत् किञ्चिद्वा
 द्यात्, तथा 'शुद्रमन्त्रानामनस्थिकानां शकटभरमपि व्यापाद्य ब्राह्मणं भोजये'दित्यादि, अपरश्चाहं वर्णोत्तमस्वान्न आह्ना-
 पयितव्योऽन्ये तु मत्तोऽव्रमाः [स्वमाः]ममाज्ञापयितव्याः, तथा नाहं परितापयितव्यः [अन्ये तु परितापयितव्याः],
 तथाऽह वेतनादिना कर्मकरणाय न ब्राह्मः अन्ये तु शूद्रा ब्राह्मा X इति । किम्बहुनोक्तेन ? नाहमुपद्रावयितव्यो-न
 ज्ञीमितादयोपयितव्योऽन्येत्व(तु)पद्रावयितव्या इति । तदेवं परपीडोपदेशनतोऽतिमूढतयाऽसम्बद्धप्रलापिनामज्ञानाश्रुताना-

+ श्चामप्रश्वासरोधनम् । X मूले ग्रहणसूत्रानन्तरं परितापसूत्रमस्ति ।

मात्ममरीणां विषमदृष्टीनां न प्राणातिपातविरतिरूपं व्रतमस्ति, तथा सृषादादत्तादानविरमणामात्रोऽप्याश्रयः, अधुना
 त्वनादिमवाभ्यासाद्दुःस्यजत्वेन प्राधान्यात्संज्ञैवात्रह्याधिकृत्याऽऽह— 'एवमेव' पूर्वोक्तैर्नैव कारणेनाति-
 मूढतया परमार्थमजानानास्ते तीर्थिणाः स्त्रीषु कामेषु च शब्दादिषु सूच्छिता गृह्णा ग्रथिता अष्ट्युपपन्नाः यावद्वर्षाणि चतुष्पञ्च
 षड्दशकानि, अयं च मह्यमः कालो गृहीतः, प्रायस्तीर्थिका अतिक्रान्तवयस एव प्रव्रजन्ति, तत्र च ते त्यक्त्वाऽपि गृहवासं
 श्रुत्वा भोगभोगानिति ते च किल वयं प्रव्रजिता इति वदन्तोऽपि न भोगेभ्यो निवृत्ताः, यतो मिथ्यादृष्टितयाऽज्ञानान्ध-
 त्वात्सम्यग्विरतिपरिणामरहिताः, ते चैवम्भूतपरिणामाः स्वायुषः क्षये कालमासे कालं कृत्वा विकृष्टतपसोऽपि सन्तोऽन्यतरे-
 ष्वासुरिकेषु किल्बिषिकस्थानेषुत्पादयितारो भवन्ति, ते ह्यज्ञानतपमा मृता अपि किल्बिषिकेषु स्थानेषुत्पत्स्यन्ते, तस्मादपि
 स्थानादायुषः क्षयाद्विप्रमुच्यमानाः किल्बिषवहुलास्तत्कर्मयोगेण एलमूकमावेनोत्पद्यन्ते, यथा एडमूकोऽव्यक्तवाग्भवति एवम-
 सावप्यव्यक्तवाक्समुत्पद्यते, तथा 'तस्मूयस्ताए'ति तमस्त्वेन-अत्यन्तान्धतमसत्त्वेन जात्यान्धतयाऽत्यन्ताज्ञानावृत्तया
 [वा] तथा जातिमूक्तया-ऽपगतवाच इह प्रत्यागच्छन्तीति । तदेवम्भूतं खलु तीर्थिकानां सावधानुष्ठानादनिवृत्तानां तत्प्रत्य-
 यिकं सावधं कर्माधीयते, तदेतल्लोमप्रत्ययिकं द्वादश क्रियास्थानमाख्यातमिति । इत्येवमर्थदण्डादीनि लोमप्रत्ययिकक्रिया-
 स्थानपर्यवसानानि द्वादश क्रियास्थानानि + 'द्रविकेण' मुक्तिगमनयोग्येन श्रमणेन माहनेन एतानि 'सम्यग्' यथाव-
 स्थितस्वरूपनिरूपणतो मिथ्यादर्शनाऽऽश्रितानि संमारकारणानीति कृत्वा ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहर्तव्यानि ।

+ "कर्मग्रन्थि द्रावणाद्भवः-सयमः, स विद्यते यस्यासौ द्रविकस्तेन" इति हर्षे ० ।

आहावरे तेरसमे किरियाठाणे इरियाव्हिएत्ति आहिज्जनि-इह खल्लु अतत्ताए संबुडस्स
 अणगारस्स इरियासमियस्स भासासमियस्स एसणासमियस्स आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमि-
 यस्स उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपरिट्ठावणियासमियस्स, मणसमियस्स वयसमियस्स काय-
 समियस्स, मणगुत्तस्स वयगुत्तस्स कायगुत्तस्स, गुत्तिदियस्स गुत्तवंभचारिस्स, आउत्तं गच्छ-
 माणस्स आउत्तं चिट्ठमाणस्स आउत्तं निसियमाणस्स आउत्तं तुयट्ठमाणस्स आउत्तं भुंजमाणस्स
 आउत्तं भासमाणस्स आउत्तं वरथं पडिग्गहं कंवलं पायपुंछणं गिह्णमाणस्स वा निक्खिवमाणस्स
 वा जाव चक्खुपम्हनिवायमत्ति अत्थि वेमाला सुहुमा किरिया इरियावहिया नाम कज्जइ, सा
 पढमसमाग्ग वद्धा पुट्ठा, वित्तियसमए वेइया, तइयसमए निज्जिण्णा, सा वद्धा पुट्ठा उदीरिया
 वेइया निज्जिण्णा, सेयकाले अकम्मए यावि भवइ, एवं खल्लु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जति,
 तेरसमे किरियाठाणे इरियाव्हिएत्ति आहिज्ज[ए]त्ति । *तेरसमे किरियाठाणे इरियाव्हिएत्ति

* छ एवमिन्द्रान्तर्गतो मूत्रपाठो नास्ति सुट्टिनासु मग्निकप्रतिषु हर्षकृत्नीयदीपिकास्वपि, परमेनदीपिकाप्रतिषु सर्वास्वप्यस्ति,

आहिते]ता* । से बेमि जे अतीया जे य पडुप्प । जे य । गमिस्सा अरहंता भगवंता सधे ते
 एयाइं चेव तेरस किरियाठाणाइं भासिंसु वा भासिंसति वा, पन्नाविंसु वा पन्नाविंसि
 वा पन्नाविस्संति वा, एवं चेव तेरसमं किरियाठाणं विंसु वा सेविंसति वा ॥ [सू० १४॥]

व्याख्या—अथापर प्रयोदशं क्रियास्थानमीर्यापथिकं X नामाख्यायते—इह खलु प्रवचने संयमे वा [आत्मनो भाव]
 आत्मत्वं, तदर्थमात्मत्वार्थं संघृतस्य अनगरस्य ईर्यादिसमितस्य तथा त्रिगुप्तिगुप्तस्य गुप्तेन्द्रियस्य नवब्रह्मचर्यगुप्त्युपेतब्रह्म-
 चारिणश्च सतः, तथोपयुक्तं गच्छतस्तिष्ठतो निपीदतस्त्वर्गतनां कुर्वाणस्य, तथोपयुक्तमेव वस्त्रं पतद्रहं कम्बलं पादप्रोच्छनकं
 वा गृह्णतो निक्षिपतो वा, यावच्चक्षुःपक्ष्मनिपातमप्युपयुक्तं कुर्वतः सतोऽत्यन्तम्लुपयुक्तस्याप्यस्नि-विद्यते विविधा मात्रा
 [विमात्रा], तदेवंविधा ब्रह्मक्षिपक्ष्ममञ्चलनरूपादिकेर्यापथिका नाम क्रिया केवलानाऽपि क्रियते, तथाहि—सयोगी जीवो न
 शक्नोति क्षणमप्येकं निश्चलः स्थातुं, अग्निताप्यमानोदकवत्कर्मणश्चरीराजुगतः सदा परिवर्तयन्नेवास्ते, केवलिनोऽपि

किन्तु सर्वेषामपि क्रियास्थानानामुपसहारसूत्रवदत्रापि ' आहिज्जती 'त्यस्य स्थाने ' आहिते ' वा ' आदिप ' इति भवितुमर्हतीत्युद्-
 बोधनार्थं लेखकादिभिः पुनरुक्ततया लिखितो भविष्यतीति सम्भावनायां न किमप्ययुक्तत्व प्रतिभासते । X " ईरणं—ईर्या, तस्यास्तया
 वा पन्था ईर्यापथः स विद्यते यस्य तदीर्यापथिकं, एतच्च शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तं, प्रवृत्तिनिमित्त तु इदं—सर्वत्रोपयुक्तस्य निष्कषायस्य
 समीक्षितमनोवाक्यायक्रियस्य या [क्रिया]तया यत्कर्म तदीर्यापथिकं सैव वा क्रिया ईर्यापथिकम्" इति हर्ष० कुलः ।

शुभमगात्रमञ्जरा भवन्ति, तथा क्रियया यद् बध्यते कर्म तस्य च कर्मणो या अवस्थास्ताः क्रियाः, ता एव दर्शयितुमाह-
 'सा पदमसमये'त्यादि, याऽमात्ररूपायिणः क्रिया तथा यद्बध्यते कर्म, तत्प्रथमसमय एव बद्धं स्पष्टं चेति कृत्वा तत्क्रियैव
 बद्धस्पष्टंत्पुक्ता, तथा द्वितीयसमये वेदिता तृतीयसमये निर्जीर्णा, एतदुक्तं भवति-कर्म योगनिमित्तं बध्यते, तत् स्थितिश्च
 रूपायापचा तदभावान्न न तस्य सांपरायिकस्येव स्थितिः, किन्तु योगसद्भावाद्बध्यमानमेव 'स्पष्टतां' संश्लेषं याति, द्वितीय-
 समयं त्वनुभूयंतं, तच्च प्रकृतितः मातावेदनीयं स्थितितो द्विममयस्थितिकं अनुभावतः शुभानुभावमनुत्तरोपपातिकदेवसुखाति-
 ग्रापि प्रदंशतो बहुप्रदेशमस्त्रिरबन्धं बहुव्ययं च । तदेवं सा ईर्यापथिका क्रिया प्रथमसमये बद्धस्पष्टा द्वितीये समये उदिता
 वेदिता निर्जीर्णा भवति । 'सेयकाले'ति आगामिनि तृतीयसमये तत्कर्मपिधया अकर्मतापि च भवति । एवं तावद्धी
 तरागशैर्याप्रत्ययिकं कर्म 'आधीयते' सम्बध्यते । तदेतच्चयोदशमं क्रियास्थानं व्याख्यातं, ये पुनस्तेभ्योऽन्ये प्राणिनस्तेषां
 सांपरायिको बन्धः । तेषां त्वीर्यापथवर्जाणि द्वादशक्रियास्थानानि, तेषु (?) वर्तन्ते, तेषां च तद्वर्तिनामसुमतां मिथ्यात्वा-
 रिरनिप्रमादरूपाययोगनिमित्तः साम्परायिको बन्धो भवति, स त्वनेकप्रकारस्थितिकः, तद्ब्रहितस्तु केवलयोगप्रत्ययिको
 द्विममयस्यतिरेर्याप्रत्ययिक इति स्थितम् । एतानि त्रयोदशक्रियास्थानानि न वर्द्धमानस्वामिनैवोक्तानि, किन्त्वन्वैरपीत्ये-
 तद्दर्शयितुमाह-'सेवेमी'त्यादि, सोऽहं ब्रवीमि-यत्प्रागुक्तं तद्ब्रवीमि इति, तद्यथा--येऽ(हन्तोऽ)तिक्रान्ताः, ये च वर्त्त-
 मानाः, ये चागामिनि काले भविष्यन्ति, ते सर्वेऽप्येवं +प्ररूपितवन्तः प्ररूपयन्ति प्ररूपयिष्यन्ति, तथैतदेव त्रयोदशं क्रिया-

+ 'अभाषिपुः भाषन्ते भाषिष्यन्ते च । तथा तत्स्वरूपतस्त्वद्विपाकतश्चे'ति बृहद्ब्रुत्तौ ।

म नाना येषां ने तथा, तेषां, नानाशीलानां, तथा नानारूपा दृष्टि-रन्तःकरणप्रवृत्तियेषां ते तथा, तेषामिति, तथा नाना-
 रुचियेषां ते नानारुचयस्तेषां, तथाहि-आहारशयनासनाच्छादनाभरणयानवाहनगीतरादित्रादिषु मध्येऽन्यस्यान्याऽन्यस्या-
 न्या रुचिर्भवति, तेषां नानारुचीनामिति, तथा नानारम्भाणामिति कृषिपाशुपाल्यविषणिशिल्पकर्मसेवाद्यन्यतमारम्भेण,
 तथा नानाऽध्ययमायसंयुतानां शुभाशुभाध्यवसायभाजामिति, इहलोकप्रतिबद्धानां परलोकनिष्पिपासानां विषयवृषि-
 तानामिदं नानाविधं पापश्रुताध्ययनं भवति । तद्यथा—

भोमं उष्पायं सुविणं अंतलिक्खं अंगं सरलक्खणं (लक्खणं) वंजणं इत्थिलक्खणं पुरिस-
 लक्खणं हयलक्खणं गयलक्खणं गोणलक्खणं मिंढलक्खणं कुक्कडलक्खणं तित्तिरलक्खणं वट्टग-
 लक्खणं लावगलक्खणं चक्कलक्खणं छत्तलक्खणं चम्मलक्खणं दंडलक्खणं असिलक्खणं मणि-
 लक्खणं कागिणिलक्खणं सुभगाकरं दुब्भगाकरं गभभाकरं मोहणकरं आहवणिं पागसासणिं द्दव-
 होमं खत्त[खत्तिय]विज्जं चंदचरियं सूचरियं सुक्कचरियं वहस्सत्तिचरियं उक्कापायं दिसोदाहं
 भियचक्कं वायसपरिमंडलं पंसुबुट्ठिं केसबुट्ठिं मंसबुट्ठिं रुहिरबुट्ठिं वेतालं अच्चवेतालं ओसोवणिं
 तालुग्घाडणिं सोवा[गि]गिणिं सावरिं दामलिं कालिं गोरिं गंधारिं उवत्तणिं उप्पयणिं जंभिणिं

थंभणिं लेसणिं आमयकरणिं विस रणिं प मणिं अंत णिं आयमणिं, एव इया ते वि ओ
 अन्नस्स हेउं पउंजंति पाणस्स हेउं पउंजंति वत्थस्स० लेणस्स० अ सिं वा विरूवरूवा
 कामभोगाणं हेउं पउंजंति, तेरिच ते वि ँ वंति, णरिया विप्पडिव । । मासे । ।
 कि ।, अन्नयराइं आ रियाइं, किब्बिसियाइं ठाणाइं उववत्तारो भवंति, त्ते ततो विप्पमु मा ।
 १ एलमूयत्ताए तमअंधयाए प णंति । (सू० १५)

व्याख्या—भूमौ मवं भौमं-निर्घातभूकम्पादिकं, उत्पातं-कपिहसितादिकं, स्वप्नं-गजसिंहवृषमादिकं× अंगं-अक्षि
 बाहुस्फुरणादिकं, स्वरलक्षणं-काकस्वरगम्भीरस्वरादिकं, लक्षणं-यवपद्मादिकं, व्यञ्जनं-मषतिलकादि, तथा स्त्रीलक्षणं
 [रक्तकरचरणादिकं, एवं] पुरुषलक्षणादीनां काक्किणीरत्नपर्यन्तानां लक्षणप्रतिपादकशास्त्रपरिज्ञानं, तथा मन्त्रविशेषरूपा विद्या,
 तथाहि-सौभाग्यकरां, दुर्भाग्यकरां, तथा ' गर्भकरां ' गर्भाधानविधायिनीं, मोहकरां-व्यामोहोत्पादिकां, आथर्वणीं-सद्योऽनर्थ-
 कारिणीं, तथा ' पाकशासनीं ' इन्द्रजालसंज्ञिकां, तथा नानाविधद्रव्यैः कणवीरपुष्पादिभिः घृतमध्वादिभिर्हवनं, तथा क्षत्रि-
 याणां विद्या धनुर्वेदादिका(तां), तथा ज्योतिषमधीत्य व्यापारयन्ति, ' चंद्रचरिय 'मित्यादि, चन्द्रचरित्रं वर्णसंस्थान-
 १० नास्ति एतौ शब्दौ सप्तचिकमुद्रितप्रतिषु । × ' तथाऽऽन्तरीक्षं-अमोघादि ' इति बृहद्बृत्तौ ।

प्रमानप्रमानत्रययोगराहूग्रहणादिकं, सूर्यचरितं-सूर्यस्य मण्डलपरिमाणराशिपरिभोगोद्घोतावकाशराहूपरागादिकं, तथा
 गुरुचरो गीथीनयप्रनारादिकः, तथा दृहस्पतिचारः [उदयास्तवर्षफलादि] शुभाशुभफलप्रदः संवत्सराशिपरिभोगादिकः,
 तयोन्मूपापादिराहाश्च चायव्यादिषु मण्डलेषु भवन्तः शस्त्राग्निशुक्लपीडानिधायिनो भवन्ति, तथा मृगशृगालादीनां आरण्य-
 कर्त्रीणानां कतदर्जनप्राप्तनगैप्रवेशदौ (या) शुभाशुभचिन्ता तन्मृगचक्रं, तथा नागमादीनां पक्षीणां यत्र स्थानदिकृस्तरा-
 भयना [शुभाशुभफलं चिन्त्यते तद्वायसपरिमण्डलं, तथा पांशु फेशमौमरुधिरादिवृष्टयोऽनिष्टफलदा यत्र शस्त्रे चिन्त्यते,
 तथा िद्या नानाप्रकाराः शुद्रकर्मकारिण्यस्ताश्चेमाः-वैताली नाम विद्या नियताक्षरप्रतिबद्धा, सा च किल कतिभिर्जापैर्दण्ड-
 सुन्ध्यायति, तथाऽवैताली तमेनोपगमयति, तथाऽवस्वापिनी-प्रमुखाः सर्वा अपि विद्या ज्ञातव्याः । तदेवमादिकाः
 प्रश्नापादिहाश्च गृह्यन्ते, एताश्च पापण्डिका अविदितपरमार्थां गृहस्था वा स्वयूथ्या वा द्रव्यलिङ्गधारिणोऽव्यपानार्थं
 प्रपुञ्जन्ति, अन्येषां वा विरूपरूपाणां कामभोगानां कृते प्रयुञ्जन्ति । सामान्येन विद्यासेवनमनर्थकारीति दर्शयितुमाह-
 ' तैरिध 'मित्यादि, तिरश्चीनां सद्नुष्ठाननिधातिनीं ते अनार्या विप्रतिपन्ना विद्यां सेवन्ते, यद्यपि ते भाषार्याः क्षेत्रार्यास्त-
 याप्यनार्यकर्मकारितादनार्या एव द्रष्टव्याः । ते च स्वाशुपःश्वये कालमासे कालं कृत्वा यदि कथञ्चिद्देवलोऽरुगामिनो भवन्ति,
 ततोऽन्यतरेश्यासुरीयेषु क्लियपिकादिस्थानेषूपत्स्यन्ते, ततोऽपि विप्रमुक्ता यदि मनुष्येषूपत्पद्यन्ते, तत्र च तत्कर्मशेषतया

+ " तालोद्घाटीनी श्यापाकी शाबरी द्राविष्ठी कालिङ्गी गौरी गान्धारी अवपतनी उत्पतनी जम्बिनी स्तम्बिनी श्लेषिणी आमय
 कारिणी विशल्यकारिणी अन्तर्दानकारिणी " इति हर्षे० ।

सोत्तणियंतिप १४ ।

व्याख्या—यथा 'वानुगामिकः' कश्चिदकार्यं करणाय गच्छति, तथा प्रकार्यं करणाय, अथवाऽपकार-
रूपेण कारको विभक्त्या उपचारो भवति, अथा तस्य प्रतिपत्तिको भवति, 'प्रतिपत्तं' सन्धुलभागच्छति, अथा
स्यानायो मन्धिन्देदको (मन्धिन्देदकभाषि) भवति—चौर्यं प्रतिपद्यते, तथोरधे-गौशरति, औरधिको भवति, [अथवा
गौकिकः] यथा अकृनिभरति शाकृनिहो भवति, अथा 'वागुरया' मुगाऽदिपन्पनरखा चरति रक्षकः
[वागुरि], यथा मत्स्येभरति मा[त्स्यकः]च्छिकः, अथा गोपालभावं प्रतिपद्यते, अथा गोघातकः स्यात्, अथा
पशुधरति शौचनिकः-शुनां परिपालको भवति, अथा मुगयो कर्षन् श्वगिर्मुगघातं करोति । अथैतानि चतुर्दशस्थानानि
आरितो विवृणोति—

से एगतिओ आणुगामियं भावं पडिसंधाय तमेव अणुगामियाणुगामियं हंता छेत्ता भेत्ता
लुंपइत्ता निलुंपइत्ता उद्वइत्ता आहारं आहारेति इति से महया पावेहिं कम्ममेहिं अत्ताणं उववखा-
इत्ता भवइ ॥ १ ॥

व्याख्या—तैकैकः कश्चिदात्पानार्थं अपरस्य ग्रामान्तरं गच्छतः किञ्चिद्द्रव्यजातप्रवगम्य केटके गत्वा अपसरं लब्ध्वा
* गृहे शाकृनिकागुरिकयोः स्थाने वागुरिकशाकृनिकयोरिति व्यस्येन निर्देशः ।

तद्द्रव्यं गृहीतुमनाः पथिकं [दण्डादिभिः] हन्ता भवति, तथा छेत्ता भवति खन्नादिभिः, तथा भेत्ता [वज्रमु]दिभिः]
लुम्पयिता-केशाकर्षणादिकदर्थनतः, तथा विलुम्पयिताऽत्यन्तं दुःखमुत्पादयति, तथाऽपद्रावयति जीविता परोपयति ।
तदेवमादिकं कृत्वाऽऽहारमाहारयति, एतदुक्तं भवति-गलकर्त्तकः कश्चिदन्यस्य धनवतोऽनुगामुकभावं प्रतिपद्य तं बहुविधै-
रुपायैर्विश्रम्भे पातयित्वा, भोगार्थी-मोहान्ध इहलोकार्थी तस्य धनवतो गलकर्त्तनादिकं कृत्वा तस्य द्रव्यजातमादायाऽऽ
हारादिकां भोगक्रियां विधत्ते, इत्येवमसौ 'महद्भिः' क्रूरैः 'कर्मभि'रनुष्ठानैर्महापातकभूतैस्तीव्रानुभवैरात्मानमुपख्यापयिता
भवति । तथाहि—असौ महापापकारीत्येवमात्मानं ख्यापयति । तथा लोके तद्विपाकाऽऽपादितेनावस्थाविशेषेण नारक-
तिर्यगादिगतात्मानमाख्यापयिता भवति ॥ १ ॥

से एगइ उवचरगभावं पडिसंधाय तमेव उवचरितं हंता छे । भेत्ता । व आहारं
आहारेति, इति से महया पावेहिं म्मेहिं तां उवक्खाइत्ता भवति ॥ २ ॥

व्याख्या—एकः कश्चिदकर्त्तव्यकारी कस्यापि धनवतो धनं जिष्टुः उपचारकभावं प्रतिसन्धाय पश्चात् नानाविधै-
रुपायरुपचरति, उपचर्य च विश्रम्भे पातयित्वा तद्रव्यार्थी तस्य हन्ता छेत्ता भेत्ता यावदपद्रावयिता भवतीत्येवमसौ
[आत्मानं] महद्भिः पापैः कर्मभिरुपाख्यापयिता भवतीति ॥ २ ॥

से एगइओ डिपहिय वं पडिसंधाय तमेव पाडिपहे ि । हं । छे । व उद्वइत्ता

आहारं आहारेति इति से महया पात्रेहिं कस्मेहिं अत्ताणं उत्रक्खाइत्ता भवति ॥ ३ ॥

व्याख्या—अर्थकः ऋषिदागन्तुकस्य पयिक्रादेर्धनवतः प्रातिपथिकभावं प्रतिपद्यते—सम्मुखं गत्वा प्रच्छन्नो मार्गं बद्ध्वा-
निष्ठानि, नतः प्रतिपथे स्थित्वा तस्यार्थगतो विश्रम्भतो हन्ता छेत्ता यावदपद्रावयिता भवतीत्येवमसावात्मानं पापैः कर्मभिः
त्यापयतीति ॥ ३ ॥

से एगतिए संधिच्छेद्गभात्रं पडिसंधाय तमेव संधिं छेत्ता भेत्ता जाव इति से महया पात्रेहिं

कस्मेहिं अत्ताणं उत्रक्खाइत्ता भवति ॥ ४ ॥

व्याख्या—एकः कश्चित्पुरुषो विरूपकर्मणा जीवितार्थी ' सन्धिच्छेदकभावं ' खत्रखननत्वं प्रतिपद्यते, ततोऽसौ
' मग्नि छिन्दन् ' खात्रं खनन् प्राणिनां हन्ता छेत्ता भेत्ता भवतीत्येतच्च कृत्वाऽऽहारमाहारयतीत्येवमसौ महद्भिः पापकर्मभिः
संभारे भ्रमति ॥ ४ ॥

से एगतिए गंठिच्छेद्[ग]भात्रं पडिसंधाय तमेव गंठिं छेत्ता भेत्ता जाव इति से महया

पात्रेहिं कस्मेहिं अप्पाणं उत्रक्खाइत्ता भवति ॥ ५ ॥

व्याख्या—अथ कश्चित्पापकर्मकारी घुर्घुरादिना ग्रन्थिच्छेदकभावं प्रतिपद्य तमेव हन्ता छेत्ता यावत् परद्रव्यमादाय
कर्मबन्धं करोति, ततः संभारे पर्यटतीति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

से एगतिए उरब्भियभावं पडिसंधाय उरब्भं वा अन्नतरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खा-
इत्ता भवइ, एसो अभिलावो सवत्थ ६ ।

व्याख्या—कश्चिदधर्मवृत्तिः ' औरभिकभावं ' औरणिकभावं प्रतिपद्यते, स च औरभिकस्तदूर्णया तन्मांसादिना
वाऽऽत्मानं वर्त्तयति, तदेवमसौ तद्भावं प्रतिपद्य उरअं वा अन्यं वा त्रसं वा (?) प्राणिनं स्वमौसपुष्ट्यर्थं व्यापादयति,
तस्य वा हन्ता छेत्ता भवतीति, शेषं पूर्ववत् ॥ ६ ॥

से एगतिए सोयरियभावं पडिसंधाय माहिसं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खा-
इत्ता भवति ॥ ७ ॥

व्याख्या—कश्चित् शौ(व)निक+भावं (शौवनिका)श्चाण्डालाः खाटिकास्तद्भावं प्रतिपद्यते, शेषं पूर्ववत् ॥ ७ ॥
से एगइओ वागुरियभावं पडिसंधाय मियं वा अन्नयरं वा तसं वा पाणं हंता जाव उवक्खा-
इत्ता भवति ॥ ८ ॥

व्याख्या—कश्चित्पापात्मा ' वागुरिकभावं ' लुब्धकत्वं प्रतिपद्य वागुरया मुगं अन्यं वा त्रसं प्राणिनं शशकादिकमात्म-
+ " अत्रान्तरे सौकरिकपदं, तद्य स्वबुद्ध्या व्याख्येयं, सौकरिकाः—श्वपचाश्चाण्डालाः खट्टिका इत्यर्थः " इति वृत्तौ ।

पुत्र्यं दाननाथं ग व्यापादयति, शेषं पूर्ववत् ॥ ८ ॥

से एगइओ साउणियभावं पडिसंधाय सउणियं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खा-

इत्ता भवइ ॥ ९ ॥

व्याख्या—कश्चिद्वधमोपायजीवी 'शकुना' लावकादयस्तेष्वरति, ततश्च तन्मांसाद्यर्थो 'शकुनि' पक्षिणं [अन्यं वा] निजिगादिकं व्यापादयति, शेषं पूर्ववत् ॥ ९ ॥

से एगइओ मच्छियभावं पडिसंधाय मच्छं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खा-

इत्ता भवति ॥ १० ॥

व्याख्या—कश्चिन्मात्स्यकमावं प्रतिपद्यते, तद्भानं प्रतिपद्य जलचरजीवान् व्यापादयति, शेषं पूर्ववत् ॥ १० ॥

से एगइओ गोघायगभावं पडिसंधाय गोणं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता

भवइ ॥ ११ ॥

व्याख्या—यथा कश्चित्कूर्कर्मकारी गोघातकमावं प्रतिपद्यते, शेषं पूर्ववत् ॥ ११ ॥

से एगतिओ गोपालगभावं पडिसंधाय तमेव गोणं [अन्नयरं वा तसं पाणं] परिजविय

परि विय हंता ज उव इ । भवति ॥ १२ ॥

व्याख्या—कश्चित् गोपालकभावमादृत्य 'गोणं' मं गोकुलाङ्गुलयित्वा 'परिजविय परिजविय' पृथक्कृत्य तस्य हन्ता छेत्ता इत्यादि पूर्ववत् ॥ १२ ॥

से एगतिओ सोवणियभावं पडिं धाय म सं [यं] वा यरं वा त . पा . हंता
।व आहारं ।हारेति, इति से हया पावेहिं म्मेहिं । उवक् इ । वति ॥ १३ ॥

व्याख्या—कश्चिज्जघन्यकर्मकारी, सो[शौ]वनिकभावं (-पापद्धिभावं प्रतिपद्यते), सारमेयं गृहीत्वा आखेटकक्रियां करोति, तेन मृगशूकरादिकं व्यापादयति, शेषं पूर्ववत् ॥ १३ ॥

से एगतिओ सोवणि[यंति]यभावं पडिं धाय स्सं वा यरं वा त . हंता छे ।
।व आहारं आहारेति, इति से महया पावेहिं कम्मोहिं । उवक् इ । भवति १४ । [सू० १६]

व्याख्या—अर्थकः कश्चिन्महाक्रूरकर्मकारी प्रत्यन्तनिदासी क्रूरसारमेयपालको द्रुष्ट सारमेयपरिग्रहं प्रतिपद्य मनुष्यं वा कश्चन पथिकं-अभ्यागतमन्यं वा मृगशूकरादिकं त्रसं प्राणिनं हन्ता भवति, तदेवमसौ महाक्रूरकर्मभिरात्मानमुपख्यापयिता भवतीति ॥ १४ ॥ आजीविकार्थे पापकर्म उक्तं, अथ केनापि हेतुना यत्पापं क्रियते तदाह—

मान्नाश्रो वा, कंठगत्रोद्वियाहिं पडिपिहित्ता सयमेव अगणिकाएणं झामेइ अन्नेण वि झामवेति
त्रामंनं पि अन्नं समणुजागानि, इति से महया पावकस्मेहिं उवचय्याइत्ता भवति ।

न्यास्या—श्रयंरुः कश्चिंरुनविचिमिंन गृहपत्यादेः कृषितन्तन्ममन्वीनामृद्धादीनां ' गाला ' गृहाणि कण्टरू-
द्यानानिः ' पिचाय ' म्यगयिन्या म्यमेवाग्निहायेन दहनं, शेषं पूजन् ।

से गणनिओ कंगइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अहुवा खलदाणेणं अहुवा सुराथालएणं गाहा-
वनीण वा गाहावनिपुत्ताण वा कुंडलं वा मणिं वा मोत्तियं वा सयमेव अवहरति अन्नेण वि
अमहरायेनि अवहरंनं [पि] अन्नं समणुजागानि, इति से महया जाव भवति ।

न्यास्या—श्रयंरुः कश्चिंरुनविदादानेन कृषितो गृहपत्यादेः ममन्विक्कण्डकदिकं द्रव्यजातं मयमेवापहरंदवशिष्टं
पानं । माअन्नं पाण्डिटकोपरि कृषितः मत्त यत्कुर्याचदर्शयति—

से गणइओ कंगइ आदाणेणं विरुद्धे समाणे अहुवा खलदाणेणं अहुवा सुराथालएणं समणाणं
वा साहगाणं वा छत्तगं वा दंडगं वा भंडगं वा मत्तगं वा लट्टिगं वा भिसिगं वा चेलगं वा
चिल्लिभिल्लिगं वा चम्मगं वा चम्मच्छेयणगं वा चम्मकोसियं वा सयमेव अवहरति जाव समणु-

जाणति, इति से महया जाच उचकखाइत्ता भवति ।

व्याख्या—अथैकः कथितस्वर्धनानुरागेण वा ग्राहपरान्नितो वा [इत्येन] केनचिन्नित्तिनेन वा कृपितः गन्धेत्कृपित-
श्रमणानां व्याख्यादीनां ग्राहनानां वा केनचिन्निदानेन कृपितः गन् दण्डच्छगादिकं + गुणकरणजातागपहरेत्, अन्येन वा
हारयेत् अन्यं वा हरन्त गमनुजानीयादित्यादि पूर्ववत् । एवं तानद्विरोधिगोडपिद्धिताः गाम्प्रतं ह्वरेडभिधीयन्ते—

से एगइओ नो चित्तिगिच्छइ [तं जहा—] ग्राहावतीण वा ग्राहावतिपुत्ताण वा समयमेव अगणि-
काणं ओसहीओ झामेति जाच अन्नंपि झामंतं समणु जाणति, इति [से] महया जाच भवति ।

व्याख्या—कथित्पुरुषोऽत्यन्तमूर्खतया नो 'चित्तिगिच्छइ' न सन्नेतसि विमुत्ते, यथाऽनेन कार्येण कृतेन परलोको
ग्रहते दुःस्वाय भविष्यतीति न गीमांगतेऽतिमूर्खत्वात्, यदीथमिदमनुष्ठानं पापानुबन्धीहयेवं न पर्यालोचयति, ततश्च परलोको-
विरोधिनीक्रियाः कुर्यात् । एतदेवोद्देशतो दर्शयति, [X तद्यथा—गृहपत्यादेर्निमित्तमेव—तस्कोपकरणमन्तरेणेव 'स्वयमेव'
आत्मना 'अग्निकायेन' अग्निना 'औपधीः' जालिषीहादिहा । 'आपयेन्' दहेत्तथाऽन्येन दाहयेद्दन्तं च समा-नु-

+ " गण्डं किन्नादस्तु 'गात्रकं' पात्रं ' लक्ष्णं' गृष्टि 'मिंसिं' तुषी आगतमिति यावत् 'चेळकं' वन्न 'चिलिमिलिगं'
ग्रच्छादनपटी 'चर्गीकं' पादुकादि 'चर्गीच्छेदनकं' शम्नादि 'चर्गीगोशक' शम्नापकोस्थकं स्वयगपहरेत्, " इति हर्ष० ।

X [] एतच्चिन्हान्तर्गतः पाठो नास्ति सर्वास्वनि दीपिकाप्रतिष्यतो पुहद्वृत्तितोऽत्रोच्युतः ।

चानीगदित्यादि] ।

[से एगइओ णो वित्तिगिच्छइ,] तं जहा-गाहावर्त्तण वा गाहावर्त्तिपुत्ताण वा उट्टाण वा गोणाण वा घोडगाण वा गद्भाण वा सयमेव घूराओ कप्पेति अन्नेण वा कप्पावेति अन्नं पि कप्पंतं समणुजाणानि ॥ १ ॥ से एगतिओ णो वित्तिगिच्छति, तं जहा-गाहावर्त्तीण वा गाहावर्त्तिपुत्ताण वा उट्टगमालाओ वा जाव गद्भमालाओ वा कंटगबोदिया [हिं] ए पडिपिहित्ता सयमेव अगणिक्काएणं ज्ञामेद जाग समणुजाणानि ॥ २ ॥ से एगतिओ णो वित्तिगिच्छति, तं जहा-गाहावर्त्तीण वा गाहावर्त्तिपुत्ताण वा कुंडलं वा जाव मोत्तियं वा सयमेव अवहरति जाव समणुजाणति ॥ ३ ॥ से एगतिओ णो वित्तिगिच्छति, [तं जहा-] समणाणं वा माहणाणं वा [छत्तगं वा] दंडगं वा जाव चम्मच्छेद [ण]गं वा सयमेव अवहरति जाव समणुजाणति ॥ ४ ॥ इति से महया जाव उवक्खाइत्ता भवति ।

व्याख्या — एते ब्राह्मणकाः पूर्वात् व्याख्येयाः, विशेषस्तयं-प्राक्तनेष्वालापकेषु केनापि कारणेन कृषितः सन् पागहिया कुरुते, ब्रह्मालापकेषु निरर्थकं पापं गृह्णाति, अयं विशेषः । माम्प्रतं विपर्यस्तदृष्टय आगाढमिथ्यादृष्टयोऽभिधीयन्ते-
से एगतिओ समणं वा माहणं वा दिस्सा नाणाविहेहिं पावकम्महेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ।

व्याख्या—पत्निका कनिष्क्याहिरगहका सारं हृष्टा परधीकतया भयणाधीना निर्भङ्गतां पतिव्रतां स्वतन्त्र
निर्भङ्गन् पतिव्रतं वा नानाविधो पापयोगानभूतेः कर्षेगिरालयानभूतपुरुषपापगिता भवतीत्येतदेव दर्शयति—

अतुनापं अच्छरापु आपकालिता भवति अतुनापं फरुसं नदित्ता भवति कालेण नि से अणुप्य-
पिद्विसा अरापं वा ४ जाग नो वतागित्ता भवति, जे इमे भवंति चोत्रगंता भारुहंता अलसगा
तरालया कियणगा रागणगा पन्नयंति ।

व्याख्या—भवति पशान्तरोपमहार्ण, कन्तिरापुदरुणे सति मिथ्यारोगहत्तहृत्तया अपाशकनोऽप्यमित्येनं मन्थमाना
सन् दक्षिणथादपसारगन् सारपद्विश्यावक्ष्याऽक्षराया—अपठिकाया आस्तालगिता भवति, अथवा तिस्रसारगापादयन् पुरुं
नो भूयात्, तद्यथा—ओदनपह्ण । निरर्थकतायकलेक्षपरायण । दुर्बले । अपसरयत, ततोऽसौ भ्रूति विद्वयादसकं वा
हृयात्, तथा मिथ्याकालेनापि तस्य मिथोर.येभ्यो मिथ्याचरेभ्योऽनभारुपनिपुस सतोऽस्तिदृष्टतया भवादेनो वापगिता भवति
अपश्च वानोवां निवेपयति, तत्परयनीकतया एवं ब्रूते—ये इमे पापण्डिका भवन्ति ते एवभूता भवन्तीत्याह—' चोत्रगंता 'सि
धुणकाग्राहारादिकमपमर्षे(१)कर्म तदन्तरतथा भारेण—कुमुदभारोण चोद्वलिमादिभारोण वा'दन्तन्ता, पराभयना
सखलिसानोऽलसाः—कामागतं कुमुदं पालगित्तासामर्थिः, ते पाण्डुपाथगति, तथा ' चरालया 'सि ' धवला ' अथगा
भूरजातया, तथा 'कृपणा' क्लीया अकिञ्चित्कसाः भयणा भवति, तत्रत्या भङ्गन्तीति ।

ते इणमेव जीवितं धिजीवितं संपडिन्नुहिति, नाइ ते परलोगस्स अट्टाए किंचि वि सिलीसंति,
 ने दुव्वंति ते सोयंति ते जूरंति ते तिप्पंति ते पिद्धंति ते परितप्पंति ते दुक्खण-सोयण-जूरण-
 तिप्पण-पिट्ठण-परितप्पण-बह-बंधण-परिकिलेसाओ अपडिविरता भवंति । ते महया आरंभेणं ते
 महया समारंभेणं ते महया [आ] रंभसमारंभेणं विरूवरूवेहिं पावकम्मकिच्चेहिं ओरालाइं
 माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजित्तारो भवंति ।

आख्या—' ते इणमेवे 'त्यादि, ते हि माधुवर्गपिनादिनः मद्धर्मप्रत्यनीका ' इदमेव जीवितं ' परापवादोद्घट्टन-
 जीविणं ' धिग्जीवितं ' माधुनिन्दापरायणं कृत्स्नतजीवितं [सम्प्रतिद्वंद्वं हन्ति] -एतदेवामद्धुचजीवितं प्रशंसन्तीति, ते चेहलोकै
 प्रमिददाः माधुनेन्दाजीविनो मोहान्धाः माधुनपादन्ति, न च ते साधूनामनुष्ठानं स्वल्पमपि ' श्लिष्यन्ति ' समाश्रयन्ति, केवलं
 ने त्तोभिः माधून् ' दुःखयन्ति ' पीडामुत्पादयन्ति, तथा तेऽज्ञानान्धास्तत्कुर्वन्ति येनाधिकं शोचन्ते परानपि शोचयन्ति
 दुर्मापिनादिभिः ओरुओत्पादयन्ति, तथा ते परान् ' जूरयन्ति ' गर्हन्ति तथा ' तिप्यन्ति ' सुखात् च्यात्रयन्ति आत्मानं
 परां, तथा अपुष्टयर्माणः अपदनुष्ठानैः सतः पीड्यन्ते परांश्च पीडयन्ति, तथा ते पापेन कर्मणा ' परितप्यन्ते ' अन्तर्द-
 नन्ने परांश्च परिनापयन्ति, तदेतं ते मद्दुत्तेष्यमन्तो दुःखनशोचनादिक्लेशादप्रतिविरताः सदा भवन्ति, एवम्भूताश्च सन्तस्ते
 मद्गाऽऽरम्भेण गहना गमारम्भेण प्राणिपरितापनरूपेण तथोभाभ्यामप्यारम्भसमारम्भाभ्यां ' विरूपरूपैश्च ' नानाप्रकारैः

सावधानुष्ठानैः पापकर्मकृत्यैरुदारान्मानुष्यकान् भोगभोगान् [ते] सावधानुष्ठायिनो भोक्तारो भवन्ति । एतदेव दर्शयति ।
तं जहा-अन्नं का पाणं पाण । वत्थं वत्थ । ले । य । य ।
[स] पुषावरं च णं पहाए यबलिकम्मे यकोउयमंग पायच्छित्ते सिरसा पहाए ठे । डे
आविद्धमणिसुवणणे कप्पियमा । मउ । पडिब रीरे वग्घारियसोणि गम दा वि अहत-
वत्थपरिहिते चंदणो [वि त्त] कि गायसरीरे महतिमहा । याए कूडागारसा । ए हति हा यंसि
सीहासणंसि इत्थीगुम्मसंपरिवुडे सवराइए ; इणाय श्रियायमाणेण हया हयनट्टगीयवाइय-
तंतीतलता डित्तघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं ओरा । इं । स्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमा विहरइ ।

व्याख्या—तद्यथा-अन्नमन्नकाले यथेप्सितं तस्य पापानुष्ठानात्सम्पद्यते, एवं पानवन्नशयनासनादिकमपि यथाकाले
सर्वमपि सम्पद्यते, यद्यदा प्रार्थ्यते तत्तदा सम्पद्यते, इत्यभिलषितार्थप्राप्तिमेव लेशतो दर्शयति, तद्यथा-विभूत्या स्नातः तथा
कृतं देवतादिनिमित्तं बलिकर्म येन स तथा, तथा कृतानि कौतुकान्यवतारणकादीनि तथा मङ्गलानि-दृश्यक्षतचन्दनादीनि
तथा दुःस्वप्नप्रतिषातकानि प्रायश्चित्तानि [येन स] कृतकौतुकमङ्गलप्रायश्चित्तः, + तथा कल्पितमालामुक्क[टी]ट (१) प्रति-

+ तथा “ शिरसि स्नातः नानाविधविलेपनावलिमन्त्रे ”ति बृहद्बृहत्तौ । अत्र वृत्तिकृदभिप्रायेण मूले कतिचित्पदानां प्राक्पश्चाद्वा-
चित्त्वमस्ति ।

पद्मगीः [दशायाः], तथा ' ग्यारिगं ' ति प्रलम्बितं ' श्रोणीसूत्रं ' कटिखड्गं मल्लदागरुलापः, X तदेवं स यथोक्त-
भूतभूतिः ' महनिमगालियाग ' ति निस्तीर्णायां ' रुडाकारशालायां ' महतिमहालये ' विस्तीर्णे सिंहासने समुपविष्टः
' गीगन्धेन ' प्रागितनेन मार्दगपरिपारेण ' सम्परिदृतो ' वेष्टितः, महता गीतनादित्रतन्व्यादिरवेणोदारान् मानुष्य-
हान भोगभोगान् सुजानो विहरति ।

तस्मिन् गंगमन्त्रि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि पंच जणा अबुत्ता चेव अब्भुट्ठंति ।

ज्याल्पा—नम्य च प्रयोजने मश्रुत्पन्ने सति एकमपि पुरुषमाज्ञापयतो यावच्चत्वारः पञ्च वा पुरुषाः अनुक्ता एव
ममपिष्टुन्ने, ने च किं कुर्याणाः ? एतद्द्रक्ष्यमाणमृचुस्तद्यथा—

भग[ह] देवाणुप्पिया ! किं करेमो ? किं आहरेमो ? किं उवणेमो ? किं उवट्ठे[आचिट्ठा]मो ?
किं मे द्वियं इच्छियं ? किं मे आसगस्स सदति ? । तमेव पासित्ता अणारिया एवं वदंति—देवे
खल्लु अयं पुरिसे देवसिणाए खल्लु अयं पुरिसे देवजिन्विणजे खल्लु[अयं]पुरिसे, अन्नेवि[य]णं
उवजीवंति, तमेव पासित्ता आरिया वदंति—अभिक्कंतकूरकम्मे खल्लु अयं पुरिसे, अतिधूते

X " अहंतं अमणित्तं यस्य परिहित येन स तथा, चन्दनेन ' उत्थिसं ' सिक्त ' गात्रं शरीरं शरीरावयवा यस्य स तथा,
नानापरिधिपनामन्त्रि इत्यर्थः । " इति हर्ष० ।

अङ्गुयायसस्ते दा हेमगागिण् नेरइण् कण्हपम्मिल्लपु आगगिस्साणं बुल्लहणेहिथापु भाणि गविस्साइ ।
 न्याकथा—भण्ण स्सागिञ्जाज्ञाय, पन्ना नयं, येन भवत्ताड्येवयादिव्यन्ते, किं कुरो ? इत्यादि सुगंधं, भावत् हृदयेचित्त-
 मिति, तथा कित्त ' जे ' बुष्साणं ' आरयवस्य ' पुलस्य ' खन्दते ' स्नाह्णु पतिपाति । [अथवा] गदेव स्वकीयभाष्यात्
 ' धनति ' निर्गन्धति तदेव नयं कुरोः । तथा तमेव सज्जानं तथाकीञ्चिज्जानं स्सुप्पस्से आर्याः एवं वदन्ति, तथाथा—देवः
 स्वानयं पुठ्ठपरत्था ' देवनातको ' देवभेदो बहूनामुज्जीव्या । तथा तये-वासदन्नायिनं दध्ण ' आर्याः ' निवेकित्तं—सदाञ्चास
 एवं वृत्ते-अभिकण-तत्पूरक्यां अवरयं पुठ्ठो, हिंसादिप्रध्वज इत्यर्थः । तथात्सौ ' पयते ' रेणुद्राथुना संभारचक्रवाले
 भाष्यते येन तज्जुत्तं-कर्णं अल्लभकारं यस्य सोऽतिपुत्तं, तथा अतीवात्यानः पापैः कर्मणिः रक्षा यस्य स आर्यशक्तः, संसारे
 बहूभिः पापकर्मभिः बहूकालं स्थास्यतीति भावः, तथा दक्षिणदिग्भागी, यो हि चूरकर्म्यां साधुनिन्द्यापरायणः साधुनिन्द-
 निरोपका स दक्षिणदिग्भागी भवति, दक्षिणारत्येण नरकतिरिङ्खित्तव्याडारेऽपुत्तवदते, ' नेरइण् 'त्यादि, नरकेषु भवो
 नारका, तथा कण्णपाक्षिका X, इदंयुक्तं भवति—पायेण दिङ्खुमथये दक्षिणा दिग्मपक्षस्ता, अतिपु नरकमतिः, पक्षयोः कृष्णपक्षः,
 तदस्य साधुपक्षेवामेर्द्वि-नान्तरायनिपायिनो दिग्वादिकं सांभ्रायस्त्वं दक्षिंतं, अन्यदपि यदप्यस्त्वं अत्यादिकमयोधिलाभादिकं
 तथोजनीयमास्येति । एतद्विपरीतस्य सांभ्रायोत्तानतः सन्दन्नानपरस्य अदक्षिणभायुकलं सदेत्थनं बुल्लपाक्षिकत्वं सुमानुषाया-
 तस्य सुलभयोधित्वमित्येवपादिकं सदर्पित्तप्रायिनो भवतीति । साम्प्रतयापसंनिधक्षराह—

X " तथा आगगिणि काले नरकान्दृष्टतो बुल्लहणेन गविष्यति " इति बृहद्दृष्टो ।

इन्द्रोयस्म ठाणस्स उट्टिया वेगे अभिगि[ज्झं]ल्लंति, अणुट्टिया वेगे अभिगि[ज्झं]ल्लंति, अभि-
 संदाउग अभिगि(ज्झं)ल्लंति, एस ठाणे अणारिए अकेवले अपडिपुन्ने अणेयाउए असंसुद्धे
 अससुगत्तणे असिद्धिमग्गे अमुत्तिमग्गे अनिवाणमग्गे अनिजाणमग्गे असवदुक्खप्पहीणमग्गे । एगंत-
 सिच्छे असाहू, एस खलु पढम(स्स) ठाणस्स अधम्मपक्खस्स त्रिभंगे एवमाहि[ए]ज्जति (सू० १७)

व्याख्या—इत्येतस्य पूर्वोक्तस्य स्थानस्यैश्वर्यलक्षणस्य शृङ्गारमूलस्य सौमारिकस्य परिथागबुद्ध्या ' एके ' केचन
 निपयंस्तमनयः पापण्डिकोत्थानेनोत्थिताः परमार्थमजानाना ' अभिगिज्झंति 'ति आगिषुखेन लुभ्यन्ते-लोभवग्गा
 गान्धीत्यर्थः । तथा ' एके ' केचन साम्प्रतेक्षिणस्तस्मात्स्थानादनुपस्थिता गृहस्था एव सन्तः ' अभिषंझ 'ति,
 सज्जा-वृष्णा, तदातुराः सन्तोऽर्थेषु अत्यन्तं लुभ्यन्ते, अतो ह्येतत्स्थानमनार्थं महापुरुषैरनावीर्णं, तथा ' अकेवल्लिं' ,
 अगृह्णति, अस्मिन् स्थाने न केवलज्ञानानासिरिति भानः । तथाऽपरिपूर्णमितरपुरुषाचीर्णत्वात्तथा सद्गुणविरहात्तुच्छं, तथा-
 ऽनोपायिकं-न्यायमार्गाद्विहिः, [असंसुद्धं-समलं] तथा ' असल्लगतं' (असल्लगतं-) इन्द्रियांसंभरणरूपं अथवा न
 गन्धकर्त्तनं, न सिद्धिमार्गः, तथाऽशेषरुर्भक्षयलक्षणायाः मुक्तेर्न मार्गस्तथा अनिर्णीणमार्गः, तथा अनिर्दयीणमार्गस्तथा न
 सौंदर्यानां पत्तीणमार्गः । कुत एवम्भूतं तत्स्थानं ? इत्याशङ्क्याह—एतत्स्थानमनार्थमेकान्तेन मिथयात्तरूपं, अत एव
 यमापुः, असदाचारात्तज्ज एयं सत्पुरुषसेवितः पन्था, येनास्मिन्मार्गे त्रिपयान्थाः प्रवर्तन्ते, एतानताऽयं प्रथम[स्य] स्थान-

स्याधर्मपक्षस्य पापोपादानभूतस्य ' विभङ्गो ' विशेषः स्वरूपमिति । साम्प्रतं द्वितीयं धर्मोपादानभूतं पक्षमाश्रित्याह—

अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्क स्स विभंगे एवमाहि ति—इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगइया मणुस्सा भवंति, तं जहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे उच्चागोया वेगे नीयागोया वेगे कायमंता वेगे हस्समंता वेगे व । वेगे दुव्वन्ना वेगे रूवा वेगे दुरूवा वेगे, तेसिं च णं खेत्तवत्थूणि परिगहियाइं भवंति, एसो आ वगो जहा पुंडरीए तहा नेयवो, इव सब्बओ (वसंता)सव्व(त्ताए)याओ (?) परिनिबुडे त्ति वेमि, एस ठाणे रिए ेवले जाव सब्बदुक्क प्पही मग्गे एंगंतसम्मि साहू दो स्स णगस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिते ॥ (सू० १८) ॥

व्याख्या—अयमालापकः सुगम एव, यथा पुण्डरीकाध्ययने तथेहापि सर्वं निरवयवं मणितव्यं, यावत्ते ' एवं ' पूर्वोक्तेन प्रकारेण सर्वेभ्यः पापस्थानेभ्य उपशान्ताः, तथा अत एव सर्वात्मतया परिनिर्मुक्ता इत्यहमेवं ब्रवीमि । तदेवमेतत्स्थानं कैवलिकं प्रतिपूर्णे नैयायिकमित्यादि प्राग्बद्धिपर्ययेण नेयं, यावद्द्वितीयस्य स्थानस्य धार्मिकस्यैव ' विभङ्गः ' स्वरूपव्याख्यानमिति । साम्प्रतं धर्माधर्मयुक्तं तृतीयस्थानमाश्रित्याह—

अहावरे त स्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिज्जाति—जे इमे भवंति आरि या आव-

नद्विया गामणियंनिया कहणुई राहस्सिया, जाव ते तओ विप्पमुच्चमाणा भुज्जो २ एलमूयत्ताए
 [तमूत्ताए | पच्चायंनि । एस ठाणे अणारिए अकेवलिए जाव असवहुक्खप्पहीणमगे एगंतमिच्छे
 असाह, एस खलु तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभङ्गे एवमाहिते ॥ [सू० १९]

अथाख्या—अथापरम्य वृतीयस्य स्थानकस्य मिथारुयस्य विभङ्गः—स्वरूपमाख्यायते, अत्रार्धर्मपक्षेण युक्तो धर्मपक्षो
 निश्च इत्युच्यते, तत्रार्धर्मस्य प्राचुर्यादधर्मपक्ष एव द्रष्टव्यः, एतदुक्तं भवति—यद्यपि मिथयादृष्टयः काञ्चित्प्रकारां
 प्राणानिनादिनिवृत्तिं कुर्वन्ति तथाप्याशयाविशुद्धत्वात् अमिनवे पित्तोदये मति शर्करामिश्रक्षीरपानवदूपरप्रदेशबृष्टिवद्विव-
 धित्वाकार्यानां कृत्वा निश्चयं कृत्वा मापद्यते, तथा मिथयात्वाच्चुभवान्मिश्रपक्षोऽप्यधर्मपक्ष एवात्रगन्तव्यः । [ए]तदेव दर्शयितुमाह—
 ये इमे जगगिरत्ताः—रुन्दमूलकलाग्निमत्तापमाः वनत्रामिनो, ये च आवसथिकाः—गृहिणस्ते च कुतश्चित्पापस्थानां बह्वृत्ता अपि
 पचन्मिथयान्चोपहतवृद्धयः, ते च यद्युपवामादिना महता कायकलेशेन देवगतयः केचन भवन्ति, तथापि ते आसुरीयेषु
 स्थानेषु क्तिञ्चिपिकेषु उत्पद्यन्ते, इत्यादि मर्वे पूर्वोक्तं मणनीयं, यावत्तत्प्रयुता मनुष्यमंत्रं प्रत्यायाता एलकमूकत्वेन तमोऽन्व-
 रता चान्ते. तदेवमेतन्स्थानमनार्यं अकेवलं—अमम्पूर्णं अनैपायिकमित्यादि यावदेकान्तमिथयाभूतं सर्वथैवैतदसाञ्चिति-
 त्वादिपस्थानस्य मिथय्यायं' विभङ्गः—स्वरूपमाख्यातमिति । उक्तान्यधर्मधर्ममिश्रस्थानानि, साम्प्रतं तदेव विशेषेण कथयति—
 अहावरे पडम[स्स] ठाणस्स अहम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जति, इह खलु पाइणं वा ४

संतेगतिया मणुस्सा भवंति-[गिहत्था] महेच्छा महारंभा महापरिगहा अधस्मिया अधम्माणु-
 [ण्णा]या अधस्मिद्वा अहम्मक्खाई अहम्म[पायजीविणो]जीवी अहम्मपलोई अहम्मप णा
 अहम्मसीलसमुदायारा अहम्मेषं चैव वित्ति कप्पेमाणा विहरंति ।

व्याख्या—अथापरोऽन्यः प्रथमस्य स्थानस्य अधर्मपक्षस्य 'विमज्जो' विभाग एवमाख्यायते, इह खलु मनुष्या एवं-
 स्वभावा भवन्तीति, एते च प्रायो गृहस्था एव भवन्तीत्याह 'गिहत्था' (इत्यादि०) । 'महेच्छा' महती-राज्यविभव-
 परिवारादिका सर्वाविशायिनी 'इच्छा' मनःप्रवृत्तियेषां ते महेच्छाः, तथा महारम्भाः-कृषिकरणादिभ्योऽविरताः, तथा
 महापरिग्रहाः-द्विपदचतुष्पदधनधान्यादिपरिग्रहोपेताः, अत एवाधार्मिकाः, तथाऽधर्मिमग्धा-निस्त्रिंशकर्मकारित्वादधम्म-
 बहुलाः, तथाऽधर्मं कर्तव्ये 'अनुज्ञा' अनुमोदनं येषां ते अधर्मानुज्ञाः, एवमधर्ममाख्यातुं शीलं येषां ते तथा, [एवम-
 धर्मप्रायजीविनः] । एवमधर्ममेव प्रलोकितुं शीलं येषां ते अधर्मप्रलोकिनः, तथाऽधर्मप्रायेषु कर्मसु प्रकर्षेण रञ्जयन्त
 इत्यधर्म[प्र]रक्ताः, तथाऽधर्मशीला-अधर्मस्वभावा, तथाऽधर्मार्तमकः समुदाचारो-यत्किञ्चनानुष्ठानं येषां ते अधर्मशील-
 समुदाचाराः, तथा 'अधर्मेषं' पापेन 'वृत्ति'निर्वहो येषां ते तथा, एवंविधाः विहरन्तः कालमतिवाहयन्ति । पापानु-
 ध्यानमेव लेखतो दर्शयितुमाह—

इण छिंद भिंद विगत्तगा लोहितपाणी चंडा रुदा खुदा साहस्सिया उक्कंचणवंचणमायानिय-

डिकूडकचडसातिसंपओगचहुला दुस्सीला दुबता दुप्पडियाणंदा असाहू सबाओ पाणाइवायाओ
 अप्पडिविरया जावज्जीवाए जाव सबाओ परिगहाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सबाओ कोहाओ
 जाव सिच्छादंसणसह्वाओ अप्पडिविरया, सबाओ पहाणुमद्दणवण[ग]गंधविलेवणसह्परिसरस-
 रूवगंधमह्वालंकाराओ अप्पडिविरता जावज्जीवाए, सबाओ सगडरहजाणजुगगिह्छिथिह्छिसीयासंद-
 माणियासयणासणजाणवाहणभोगभोयणपत्तिथरात्रिहीओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सबाओ
 कयविक्रयमासद्धमासरूवगसंवहाराओ अप्पडिविरया [जावज्जीवाए], सबाओ हिरणणसुवण-
 धणधन्नमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालाओ अप्पडिविरया [जावज्जीवाए], सबाओ कूडतुलकूड-
 साणाओ अप्पडिविरया [जावज्जीवाए], सबाओ आरंभसमारंभाओ अप्पडिविरया [जाव-
 ज्जीवाए], सबाओ करणकारावणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सबाओ पयणपयावणाओ अप्प-
 डिविरया [जावज्जीवाए], सबाओ कुट्टणपिट्ठणतज्जणताडणबहबंध[ण]परिकिलेसाओ अप्पडिविरता
 जावज्जीवाए, जेआवणे तहप्पगारा सावजा अबोहिता कम्मंता परपाणपरितावणकरा जे

अणारिण्हिं कज्जंति, ततो वि अप्पडिविरया जावजीवाए--

व्याख्या--ते अनाय्याः स्नत एव हननादिकाः क्रियाः कुर्वाणा अपरेषामपि एवमेवोपदेशं ददति । तत्र हननं दण्डादिभिस्तत्कारयन्ति । तथा छिन्धि कर्णादिकं, भिन्दि शूलादिना 'विकर्त्तकाः' प्राणिनां चर्मापनेतारः; अत एव लोहितपाणयः, तथा [चण्डाः] । 'रौद्रा'निस्त्रिशाः, शुद्राः शुद्रकर्मकारित्वात्, तथा साहसिकाः असमीक्षितकारित्वात्, तथोत्कुञ्चनवञ्चनमायानिकृत्तिकृटकपटादिभिः सहातिसम्प्रयोगो-गाढ्यं, तेन बहुलास्तत्प्रचुराः, एते चोत्कुञ्चनादयो मायापर्यायाः, इन्द्रशक्रादिवत् कथञ्चित्क्रियाभेदेऽपि द्रष्टव्याः + । तथा दुःशीलाश्चिरमुपचरिता अपि क्षिप्रं विसंबदन्ति, दुःखानुनेयदारुणस्वभावा इत्यर्थः । तथा [दुष्टव्रताः गौसाभक्षणव्रतकालसमाप्तौ प्रभूततरसस्वोपघातेन मौसप्रदानं, अन्यदपि नक्तभोजनादिकं दृष्टव्रतमिति, तथा दुःखेन प्रत्यानन्दन्ते [हर्षं प्राप्यन्ते] दुष्प्रत्यानन्दा, दुराराध्या इत्यर्थः, उपकारेऽपि दोषमेव गृह्णन्ति, यत एवमतोऽसाधवस्ते, पापकर्मकारित्वात्, तथा यावज्जीवतया सर्वस्मादपि प्राणातिपातादविरताः, लोकनिन्दनीयात् स्त्रीहत्याबालब्राह्मण-ऋषिघातादेरप्यविरताः, एवं मृषावादादत्तादानमैशुनपरिश्रहक्रोधमानमायालोभप्रेमद्वेषकलहाभ्याख्यानपैशून्यपरपरिवादरत्य-

+ " तत्र शूलासारोपणार्थमूर्ध्वं कुञ्चनमुत्कुञ्चनं । वञ्चनं-प्रतारणं, यथाऽभयकुमारः प्रद्योतगणिकाभिर्धर्मवञ्चनया वञ्चितः । माया-वञ्चनबुद्धिः, प्रायो चण्डिजामिव । निकृतिस्तु बकधृत्त्या देशभाषादिविपर्ययकरणं । कृष्टं तुलामानावेर्न्यूननाधिककरणं । कपट-यथाऽऽषाढभूतिना वेपपराधृत्त्याऽऽचार्योपाध्यायसङ्घाटकार्थं वारंवारं मोदका लब्धाः । " इति हर्ष० ।

गनिमायाभ्यामिभ्यादृशानगल्यादिभ्योऽमदनुष्ठानेभ्यो यावज्जीवयाऽप्रतिविरता भवन्तीति, तथा सर्वस्मात् स्नानोद्धर्त्तनवर्णक-
 िर्त्तनप्रवृत्त्यर्थरूपरमगन्धमाल्याऽल्लङ्घ्यात् - कामाङ्गान् मोहजनितान्प्रतिविरताः यावज्जीवया, तथा सर्वतः शकटस्थादेर्यानि-
 िर्त्तादिहान् प्रतिभ्रन्तविधेः परिरुपर्यात् परिग्रहादप्रतिविरताः, तदेवमन्यस्मादपि वस्त्रादेः परिग्रहादुपकरणभूताद-
 िगिगान्था ' मन्त्राः ' मन्त्रस्मात् क्रयविक्रयाभ्यां करणभूताभ्यां यो मापकार्द्रमापकरूपकार्पापणादिभिः पण्यविनिमया-
 न्मरुः मन्त्राशरभ्रन्स्माद्विरताः, यावज्जीवयेति, तथा ' मर्वतः ' सर्वस्मात् हिरण्यसुवर्णादिः प्रधानपरिग्रहाद्विरतास्तथा
 दृष्टुल्लङ्घ्यमानांदरिस्ताः, तथा मर्वतः कृपिपाशुपाल्यादेर्यत् म्वतः करणं अन्येन यत्किञ्चित्कारयन्ति तस्माद्विरतास्तथा
 पचनयाननगन्धया ल्बण्डनकृद्भनपिट्टनतर्जनताडनचघवन्धनादिना यः परिक्लेशः प्राणिनां तस्माद्विरताः । साम्प्रतमुप-
 संहरनि-ये चान्ये तथाप्रकाराः परपीडाकारिणः मावद्याः कर्मममारम्भाः ' अबोधिकाः ' बोधिलाभविधातिनः, तथा
 [परप्राण]परिनापनकराः गोब्राह्मचन्दीग्रहग्रामघातात्मकाः, ये अनार्यैः क्रियन्ते, ततोऽप्रतिविरताः यावज्जीवयेति । पुन-
 रन्यथा चद्रप्रकारमन्त्रारूपं प्रतिपिपादयिपुराह—

से जहा नामए केइ पुरिसे कलममसूरतिलमुग्गमासणिप्फावकुलत्थआलिसंदगपलिमंथ-
 गमादिएहिं अयते कूरे मिच्छादंडं पउंजंति, एवामेव तहप्पगारे पुरिसजाए तित्तिरवट्टगलावग-
 कपोतकविंजलमियमहिसवराहगाहगेहकुम्मसिरीसिवमादिएहिं अयते कूरे मिच्छादंडं पउंजंति,

अणारिषिंहिं कञ्जति, ततो वि अप्पडिविरया जावजीवाए--

व्याख्या—ते अनाय्याः स्वत एव हननादिकाः क्रियाः कुर्वाणा अपरेषामपि एवमेवोपदेशं ददति । तत्र हननं दण्डादिभिस्तत्कारयन्ति । तथा छिन्धि कर्णादिकं, भिन्दि शूलादिना 'विकर्चकाः' प्राणिनां चर्मापनेतारः; अत एव लोहितपाणयः, तथा [चण्डाः] । 'रौद्रा'निस्त्रिशाः, क्षुद्राः क्षुद्रकर्मकारित्वात्, तथा साहसिकाः असमीक्षितकारित्वात्, तथोत्कुञ्चनवञ्चनमायानिकृत्तिकटकपटादिभिः सहातिसम्प्रयोगो-गाढ्यं, तेन बहुलास्तत्प्रचुराः, एते चोत्कुञ्चनादयो मायापर्यायाः, इन्द्रशक्रादिवत् कथञ्चित्क्रियाभेदेऽपि द्रष्टव्याः + । तथा दुःशीलाश्चिरमुपचरिता अपि क्षिप्रं विसंवदन्ति, दुःखानुनेयदारुणस्वभावा इत्यर्थः । तथा दुष्टव्रताः मौसाभक्षणव्रतकालसमाप्तौ प्रभूततरसत्त्वोपघातेन मौसप्रदानं, अन्यदपि नक्तभोजनादिकं दृष्टव्रतमिति, तथा दुःखेन प्रत्यानन्दन्ते [हर्षं प्राप्यन्ते] दुष्प्रत्यानन्दा, दुराराध्या इत्यर्थः, उपकारेऽपि दोषमेव गृह्णन्ति, यत एवमतोऽसाधवस्ते, पापकर्मकारित्वात्, तथा यावजीवतया सर्वस्मादपि प्राणातिपातादविरताः, लोकनिन्दनीयात् स्त्रीहत्याबालब्राह्मण-ऋषिघातादेरप्यविरताः, एवं मृषानादादत्तादानमैथुनपरिग्रहक्रोधमानमायालोभप्रेमद्वेषकलहाभ्याख्यानपैशून्यपरपरिवादरत्य-

+ " तत्र शूलाद्यारोपणार्थमूर्ध्वं कुञ्चनमुत्कुञ्चन । वञ्चनं-प्रतारणं, यथाऽभयकुमारः प्रद्योतगणिकाभिर्धर्मवञ्चनया वञ्चितः । माया-वञ्चनबुद्धिः, प्रायो वणिजामिव । निकृतिस्तु बकधृत्त्या देशभाषादिविपर्ययकरणं । कूटं तुलामानवेर्न्यूनाधिककरणं । कपटं-यथाऽऽषाढभूतिना वेषपराधृत्त्याऽऽचार्योपाध्यायसङ्घाटकार्त्तमार्थं वारवारं मोदका लब्धाः । " इति हर्ष० ।

रनिमायाशृगामिध्याशृगानंनगल्यादिभ्योऽमदनुष्ठानंभ्यो यावज्जीवयाऽप्रतिविरता भवन्तीति, तथा सर्वस्मात् स्नानोद्धर्त्तनवर्णक-
 विंशताननन्दम्यशृगोपरमगन्धमाल्याऽलङ्कारान्- कामान् मोहजनितान्प्रतिविरताः यावज्जीवया, तथा सर्वतः शकटस्थादेर्यानि
 विंशतिदिक्कान् प्रतिस्तरमिधेः परिकररूपात् परिग्रहादप्रतिविरताः, तदेवमन्यस्मादपि त्रस्रादेः परिग्रहादुपकरणभूताद-
 रिगान्नाया ' नर्त्तनः ' सर्वस्मात् कयनिक्रयाभ्यां करणभूताभ्यां यो मापकार्द्रमापकरूपककार्षापणादिभिः पण्यविनिमया-
 न्मरुः संन्यपशरमनस्मादविरताः, यावज्जीवयेति, तथा ' सर्वतः ' सर्वस्मात् हिरण्यसुवर्णादेः प्रधानपरिग्रहादविरतास्तथा
 वृत्तुल्लुहटगानांटेरिविरताः, तथा सर्वतः कृपिपाशुपाल्यादेर्यत् स्वतः करणं अन्येन यत्किञ्चित्कारयन्ति तस्मादविरतास्तथा
 पचनपानननम्याया खण्डनकृत्नपिष्टनतर्जनताडनचञ्चननादिना यः परिकलेशः प्राणिनां तस्मादविरताः । साम्प्रतमुप-
 संहरन्ति-ने चान्ये तथाप्रकाराः परपीडाकारिणः सावद्याः कर्मममारम्भाः ' अर्वाधिकाः ' चोघिलाभविघातिनः, तथा
 [परप्राण]परिनापनकराः गोश्राहचन्दीग्रहप्रामघातात्मकाः, ये अनार्थ्यैः क्रियन्ते, ततोऽप्रतिविरताः यावज्जीवयेति । पुन-
 रन्यथा चद्रप्रकारमथाभिंमरुदं प्रतिपियादयिषुराह—

मं जहा नामए केइ पुरिसे कलममसूरतिलमुग्गमासणिप्फावकुलत्थआलिसंदगपलिमंथ-
 गमादिएहिं अयते कूरे मिच्छादंडं पउंजंति, एवामेव तहप्पगारे पुरिसजाए तित्तिरवह्गलावग-
 कपोतकविंजलमियमहिसत्रराहगाहगोहकुम्मसिरीसित्रमादिएहिं अयते कूरे मिच्छादंडं पउंजंति,

जावि य से बाहिरिया परिसा भवति, तं हा-

व्याख्या—यथा नाम अस्मिन् विचित्रे संसारे केचनैवम्भूताः पुरुषाः, ये कलममस्तरतिलमुद्गादिषु पचनपाचनादिक्रिया क्रियया स्वपरार्थमयताः क्रूराः मिथ्यादण्डं प्रयुञ्जन्ति, निरपराधेष्वपि मिथ्यादण्डं विदधति, तथैवमेव निष्प्रयोजनं तथाप्रकाराः पुरुषा निर्दयाः जीवोपघातनिरतास्तिरर्चकलावकादिषु जीवनप्रियेषु प्राणिषु अयताः—क्रूरकर्माणो नराः, मिथ्यादण्डं प्रयुञ्जन्ति, तेषां क्रूरधियां “यथा राजा तथा प्रजा” इति वचनात् परिवारोऽपि तथाभूत एव क्रूरो भवतीति, तथा दर्शयितुमाह—‘जावि य से’ इत्यादि, यापि च तेषां बाह्या पर्षद्भवति, तद्यथा—

दासेइ वा पेसेइ वा भयएति वा भाइछेति वा म्म रएति वा भोग रि ेति वा, तेसिं
पि य णं अन्नयरंसि वा अहालहुगंसि अत्रराहंसि सयमेव गरुयं दंडं निव्वत्तेति । तं हा-इ .
दंडेह इमं मुंडेह इमं तजेह इमं तालेह इमं अंडुयबंधणं रेह इमं नियडबंध रेह इ
हडिबंधणं करेह इमं चारगबंधणं रेह, इमं निय जुय सं ेडियमोडियं रेह, इमं हत्थ-
छिन्नयं करेह इमं पायछि यं रेह इमं ि यं रेह इमं न उट्टसीस ि यं रेह,
वेयगच्छहियं अंगच्छहियं पप्फोडियप [पव । ेडि] यं करेह मं

त्रिभुष्पाडियं करेह, उछंत्रियं ऊ[व]सियं करेह सूलाइयं करेह [सूला]भिन्नयं
 त्वारवत्तियं दन्भवत्तियं करेह सीहपुच्छियगं करेह वसहपुच्छियगं करेह दवगिगदह्(यं)गं
 कागिणिमंसखावियंगं भत्तपाणतिरुद्धगं इमं जावज्जीवं वहवंधणं करेह इमं अन्नयरेणं असुभेणं
 कुमारेणं मारेह-

व्याख्या—दामः 'प्रेष्यः' प्रेषणयोग्यो 'भृतको' वेतनेनोदकाद्यानयनविधायी, तथा मागिको यः षष्ठांशादिलाभेन
 हृष्यादौ व्याप्रियते, तथा कर्मकरः प्रतीतः [तथा नायकाश्रितः कश्चिद्भोगपरः], तदेवं ते दासादयोऽन्य(तरस्मिन् ?)स्य
 न्याप्यप्राये शब्दाश्रयणादिके गुरुतर दण्ड प्रयुञ्जन्ति प्रयोजयन्ति च । स च नायकस्तेषां दासादीनां बाह्यपृच्छताना-
 मन्प[नग]दिभ्रागिदं गावदिममन्यतरेणाशुभेन कुत्सितमारेण व्यापादयत युयं-
 पित्यादिभ्रागिदं गावदिममन्यतरेणाशुभेन कुत्सितमारेण व्यापादयत युयं ।

जात्रि य से अडिभतरिया परिसा भवति, तं जहा-मायाति वा पिताति वा भायाति वा ।
 भइणीति वा भजाइ वा पुत्ताइ वा सुणहाइ वा धूयाइ वा, तेसिं पि य णं अन्नयरंसि अहालहुगंसि
 अवरहंसि सयमेव गरुयं दंडं निवत्तेइ, सीओदगवियडंसि उच्छोलित्ता भवइ जहा मित्तदोसवत्तिए

[जाव] अहि ए परंसि लोगंसि, ते दुखंति सोयंति जूरंति तिप्पंति पिद्धंति परितप्पंति, ते दुव ण-
सोयणजूरणतिप्पणपिट्ठणपरितावणवहबंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरया भवंति ।

व्याख्या—याऽपि च क्रूरकर्मवतामभ्यन्तरा पर्यङ्गवति, तद्यथा—मातापित्रादिका, भिन्नदोषप्रत्ययिकक्रियास्थानवन्नेयं
गावदहितोऽ[गम]स्मिन्नोके इति, तथाहि—आत्मनोऽपध्यकारी परस्मिन्नोके, तदेवं ते मातापित्रादीनां स्वल्पापराधिनामपि
शुक्तरदण्डापादनतो दुःखमुत्पादयन्ति तथा नानाविधैरुपायैस्तेषां शोकमुत्पादयन्तीत्येवं प्राणिनां बहुप्रकारपीडोत्पादका
यावद्बुधबन्ध(न)परिकलेशप्रतिविरता भवन्ति । ते च विषयामक्तयैतत्कुर्वन्तीत्येतद्दर्शयितुमाह—

एवमेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गहिया अज्झोवव । जाव वासाइं चउपंचमाइं
छहसमाइं वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं भुंजित्तु (भोग)भोगाइं परामु[पविसु]इ । वेरा-
यतणाइं संचिणित्ता बहूइं कूराइं कम्माइं ओस इं संभा(रकडेण)रेणं म्मेण, से जहा ना ए
अयगोलेति वा सेलगोलेति वा उदगंसि पखित्ते समाने उदगतलमतिवइत्ता अहे धरणित पइट्ठणे
भवइ, एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाए वज्जबहुले धूतबहुले पंकबहुले वेरबहुले अयसबहुले अप्प-
त्तिय० दंभ० नियडि० सादिबहुले ओसन्नतसपाणघाती कालमासे

अहं णरगनलपडट्टाणे भवति (सू० २०) ॥

शान्ता—एवमेव पूर्वोक्तमभावात्, एवं ते निष्कृपा निरनुक्रोशा ब्रह्माभ्यन्तरपर्यदोरपि कर्णनाशा विकर्तनादिना
रन्त्यानमभावाः गीर्षानाः कामान्तेषु मूर्च्छिता गुद्धा ग्रथिता अभ्युपपन्नाः, ते च ते भोगासक्ता व्यपगतपरलोकमयाः
यादृशीनि ततःपञ्च पट्टमस्य ता दृश्यादप्यतरं वा प्रभूततरं वा कालं भुक्त्वा भोगभोगान् तथा परपीडोत्पादनतो वैरादनु-
बन्धान् परिशयो-त्पाद्य तथा मञ्चयित्वा 'बहूनि' प्रभूततरकालस्थितिकानि 'क्रूराणि' दारुणानि नरकादिषु यातना-
रयानेषु कृतापाटनगतप्रगुणानात्मकानि कर्मण्यष्टप्रकाराणि बद्धस्पृष्टनिवृत्तनिकाचनानस्थानि विधाय तेन च सम्भार-
कानि कर्मणा पर्यमाणाम्भक्तकर्मगुरो ता नरकतलप्रतिष्ठाना भवन्ति । अस्मिन्नर्थे सर्वलोकप्रतीतं दृष्टान्तमाह—'से जहा
नामण अगगोले' इत्यादि, तद्यथा नाम 'अयोगोलको' लोहगोलक [शिलागोलको-वृत्ताश्मशकलं वा] उदके
पश्चिमः मनु भलिन्नगलमतिर्या-तिलदृश्यादधोघरणितलप्रतिष्ठानो भवति । अथ दार्ष्टान्तिकमाह—'एवमेवे' त्यादि, यथा-
द्वारायोगोलकः शीघ्रगोलाधो यात्येवमेव तथाप्रकारः पुरुषजातः, तमेव लेशतो दर्शयति—'वज्रबहुलो' वज्रबहुलरुत्वात्कर्म,
तत्रबहुलः बल्यमानकर्मगुरुः, तथा भूगत इति [धृतं—] प्राग्बद्धं कर्म, तत्प्रचुरः, तथा 'पङ्क' पापं तद्बहुलः, तथा वैर-
रुत्वात्, तथा 'अपस्त्रिगं'ति अपत्ययत्रहुलः, तथा 'मायाबहुलः' कपटबहुलः, तथा निकृति-गर्भिया वैषभापापराधुत्ति-
रूपना पारोशुस्त्रिस्तन्मयः, तथा सातिगहुलः, हीनद्रव्यस्य सातिशयेन द्रव्येण संयोजनं सातिस्तद्बहुलः—तत्करणप्रचुरः,
तथा अशो बहुलः म एवभूतः पुरुषः कालमासे कालं कृत्वा नरकतलप्रतिष्ठानो भवति ।

‘विधाः’ इतिगर्भाणां कृत्वा कर्मणिलिप्ताः, एत परमदुर्गन्धाः—[कृथितगोमायु] क्लृपारादप्यमह्यगन्धाः, तथा कृष्णाऽग्नि-
 पर्वायाः स्याः, परमंस्तु ‘कर्मणः’ कृत्वा तत्परुष्टकादप्यधिकतरः स्प[र्शो] येषां ते तथा[र्शाः], तथा ‘दुस्तहाः’ अतीव
 दुःखेन विगन्धन्ते, किमिति? यत्सो नरकाः—पञ्चानामपीन्द्रियार्थानामशोभनतादद्युभाः, तत्र च सरानामशुभकर्म-
 कारिणामुत्पत्तिना तीव्रा-अतिदुःमहा वेदनाः प्रादुर्भवन्ति । ते च नारकास्तथा वेदनया अक्षिण्येपमात्रमपि कालं न
 निशान्ते न परलायन्ते; * वेदनाऽभिभूतत्वात्कृतस्तेषां निद्रालाभो भातीति दर्शयति, तीव्रा-युञ्जालामित्यादिविशेषण-
 विधियां पादू रेरनां वेदयन्त्यनुमान्ति । पुनरपरं वृष्टान्तमाह—

से जहा नामए (केइ) रुक्खे सिया पव्वयगे जाते मूले छिन्ने अगे गरुए जओ णिन्नं
 जओ विसमं जओ दुगं तओ पव्वडति, एवामेव तहप्पगारे पुरिसजाते गब्भतो गब्भं जम्मातो
 जम्मं माराओ मारं नरगाओ नरगं दुक्खाओ दुक्खं दाहिणगामिए नेरईए कण्हपक्खिए आग-
 मिस्साणं दुत्तह्वेओहिए यावि भवति, एस ठाणे अणारिए अकेवले जाव [अ]सव्वदुक्खप्पहीण-
 मगे एगंनमिच्छे असाहु, पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विहंगे एवमाहिए ॥ [सू० २२]

० “ पुंनि वा रति ॥ धृति वा भति वा नोपलभन्ते ” इति एर्ध० ।

सोमलेसा सूरौ इव दित्ततेया जच्चकंचणगं व जातरूवा वसुंधरा-इव सवफासविसहा सुहुतहुया-
सणो त्रिव तेयसा जलंता । × नत्थि णं तेसिं भगवंताणं करथ वि पडिबंधे, से य पडिबंधे चउव्विहे
पन्नत्ते, तं जहा-अंडएति वा पोयएति वा उग्गहेइ वा पग्गहेइ वा, जल्लं जल्लं दिसं इच्छंति तन्नं
तन्नं दिसं अप्पडिबद्धा सुइभूया लहुभूया अ[ण]प्पगंथा संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा
विहरंति । तेसि णं भगवंताणं इमा एतारूवा जायामायावित्ती होत्था, तं जहा-चउत्थभत्ते

× “ नास्ति तेषां कुत्रचित्प्रतिबन्धः, स च प्रतिबन्धश्चतुर्विधस्तद्यथा-अण्डजो हंसादि. अण्डकं वा मयूराण्ड क्रीडामयूरादिहेतुः,
स्यात्तेन तत्र प्रतिबन्धः । पोतजे हस्त्यादौ पोतके वा शिशुत्वात्प्रतिबन्धः स्यात् । अथवा ‘ अंडजोइ वा वोंडजोइ वा ’ इति
पाठान्तर । अण्डजं-सणिक्रादिवल्ल, वोण्डजं-कार्पास वल्लं, तत्र प्रतिबन्धः स्यात् । ‘ उग्गहेइ वा ’ अत्रगृहीतं-परिवेषणार्थमुत्पाटितं
भक्तपानं, प्रगृहीतं-भोजनार्थमुत्पाटितं तदेव, अथवा अनवग्रहिकं वसतिपीठफलकादि औपग्रहिकं वा दण्डकाद्युपधिजातं, प्रग्रहीतं तु
रजोहरणाद्यौघिकोपधिरूपं, तत्र प्रतिबन्धः स्यात् । ‘ जण्णं ’ति या[या] दिशमिच्छन्ति विहसुं तातां दिश विहरन्ति । किम्भूताः ?
अप्रतिबद्धाः शुचिभूता-भावशुद्धिमन्तः श्रुतिभूता वा-प्राप्तसिद्धान्ताः । लघुभूता-अलवोपधयोऽगौरवाश्च, अनल्पग्रन्था-बह्वगमा,
न विद्यते आत्मनः सम्बन्धी ग्रन्थो-हिरण्यादियेषां तेऽनात्मग्रन्था इति वा ” इति हर्ष० ।

छट्ठभक्ते अट्टमभक्ते द्वादसमभक्ते त्रिंशत्समभक्ते चोद्दसमभक्ते, अद्धसासिए (भक्ते) मासिए (भक्ते) दोमसिए, तिमानिए, चउन्मसिए, पंचमसिए, छम्मासिए, अट्टत्तरं च णं उखिच्चरगा (निखिच्चत्त-
चरगा उखिच्चत्त) निखिच्चत्त-रगा अंतचरगा ल्हहचरगा संसट्टुचरगा असंसट्टु-
चरगा तज्जातमंसट्टुचरगा, टिट्टुलाभिया, अट्टिट्टुलाभिया, पुट्टुलाभिया अपुट्टुलाभिया, भिक्खला-
भिया अभिक्खलाभिया, अन्नात्तचरगा *अन्नगिलायचरगा उवनिहिया, + संखादत्तिया परिमिय-

२ नः पैरिगुणपगतः पाठः भगवत्तत्तुमुद्रिनप्रसिधु ।

+ " अन्नात्तचरगा इत्यथो येषां ते तथा । परिमित-अट्टपौपादि(?) (पिण्डपात-आहार)लाभो येषामस्ति ते तथा । ' अट्टमसिया ' इत्येताः पुद्गल-या-पेय-त-य-भक्त-इत्येता येषामस्ति ते [तथा] । अन्तप्रान्तं-वल्लयनकादिः, स आहारो येषां ते तथा । ' अम-नीर-म-जी-जीभू-या-त्त-आटा-याः । ' अंमलिया ' आचाम्लं-ओदनकुम्भापादि, तेन चरन्तीति । निर्विकृतिताः-पुष्पादि-विकृतिगतिनः । ' वनगमांसाग्निः-वगमास-नाश्नन्तीति । ' नो-नियाग ' ति-न-नित्यं-रस-भोजिनः । ' नेमज्जिया ' ति-न-नित्यं-नू-नो-व-ति-ग-न, तथा चरन्तीति-नेपयिन्ताः । भिक्खामननिविष्टस्य भूयस्तपादस्य विहासनापनोद्रे एति याद्दशमवस्थानं, अन्तप्रान्तं-न-सि-ग-नि-ठः । इदमस्येयायन-आयापो येषां ते वण्डायतिन्ताः । लगण्डं-वक्रकाष्ठं, तद्धत् शेरते ये ते लगण्डशायिनः,

पिंडवाइया, सुद्धेसणिया अंताहारा पंताइहारा अरसाहारा विरसाहारा लूहाहारा तुच्छाहारा, अंतजीवी
 पंतजीवी, आयंत्रिलिया पुरमाहिया निव्विगइया, अमज्जमंसासिणो नो निकाम[नो नियाग]रसभोई
 ठाणाइया पडिमाठाणाइया उकुडुआसणिया नेसज्जिया वीरासणिया वंडायतिया लंगंडसाइणो-
 [आयावगा] अवाउडा अगत्तया अकंडुया अनिडुहा* धुतकेसमंसुरोसिनहा, सव्वगायपडिकम्म-
 विप्यमुक्खा विट्ठंति । [ते णं] एतेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामन्नपरियागं पाउणंति
 पाउणिता आनाहंसि उप्यन्नंसि वा अणुप्यन्नंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खंति], पच्चक्खित्ता बहूइं
 भत्ताइं अणसणाए छेइंति, छेइत्ता जस्तडाए कीरइ नगभावे सुंडभावे अणहाण[भावे]गे(ः)
 अइंतवणगे अच्छत्तए अणोवाहणए, भूमिसेज्जा फलगसेज्जा कटुसेज्जा केसलोए वंभचेरवासे
 परधरपवेसे लद्धावलद्धे माणावनाणाओ हीलणाओ निंदणाओ खिसणाओ गरहणाओ तज्जणाओ

पाणिक्का शिरस्स वा (?) मूनौ लगति तया जन्तं कुर्वतः । नावापक्क-जावापनाभाहिणः । 'अवाउडा' लशब्दवाः-प्रत्तरनवर्तकाः ।
 'अनिडुहा' लन्निडीवताः । इति हर्षकुल्लोपदीपिकायात् ।

नान्दणाओ उच्चावया गामकंटगा वावीसं परसिहोवसगा अहियासिज्जंति तमडुं आराहंति, आरा-
 दिता चरमेहिं ऊत्तामनीसासेहिं अणंतं अणुत्तरं निव्वाघायं निरावरणं कसिणं पडिपुन्नं केवल-
 प्रगणाणदंसणं समुप्पाडित्ति, समुप्पाडित्ता कालमासे कालं किच्चा ततो पच्छा सिज्जंति बुज्जंति
 जुज्जंति परिनिव्वायंति सब्वदुक्ख्वाणसंतं करंति । एगच्चाए पुण एगे भयंतारो भवंति, अवरं पुण
 पुव्वकस्मानवमेभेणं [कालमासे]कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोकेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तं
 जहा-सहिद्विण्णु महाज्जुनिण्णु महापरक्कमेसु महाजलेसु महाणुभावेसु महासुवखेसु ।

व्याख्या — १ इत्यादिभाष्यार्णः कः प्राक्तनः सर्वोऽपि पाठसिद्ध एव, सुगमत्वाद्, वृहद्दीक्षाकारेण न व्याख्यातोऽत्रा-

+ इति प्राग् प्रवृत्तौ निम्नप्रकारेणोपलभ्यते वृत्तिपाठः—“ सुगम एव, तत्रं विशेषः—‘ उक्खित्तचरणे ’ उक्खित्तं—स्वप्रयो-
 यणाय याचमानानादुत्तं, तदर्थमभिप्रहाश्रयति—नद्रगवेणाय गच्छतीत्युत्थासत्तकः । ‘ निक्खित्तचरणे ’त्ति निक्षिप्तं—पाकभाजना-
 वनः । ‘ उभियण-भियिन्नचरणे ’ति पाकभाजनादुत्थिप्तं तत्र वाऽन्यत्र च स्थाने (निक्षिप्तं) यच्चदुत्थिप्तनिक्षिप्तं । ‘ संमट्ट-
 चरणे ’ति संयुक्तं—परिच्छिन्नं ह्यपदिना दीयमानं संमट्टपुच्यते, तत्रति यः स तथा । ‘ असंसट्टचरणे ’त्ति [उक्खिपरीतमसंसट्टं,
 तिन चरंति । ‘ नत्ताप ’त्ति] तज्जातेन रेगद्रव्याधिरोधिना यत्संसट्ट हस्तादि, तेन दीयमानं यच्चरति स तथा । ‘ अन्नायचरणे ’त्ति

प्यत एव न लिखितः । अन्यच्च-विशेषार्थिना औपपातिकमाचाराङ्गसम्बन्धिप्रथममुपाङ्गं, तत्र च साधुगुणाः प्रबन्धेन व्यावर्णयन्ते, तदिहापि तेनैव क्रमेण द्रष्टव्यमिति । तथा एवंविधाः साधवः * सर्वगात्रपरिकर्मत्रिप्रमुक्ता-निष्प्रतिकर्म शरीरास्तिष्ठन्तीति । तथोग्रविहारिणः प्रव्रज्यापर्यायमनुपाल्य आबाधारूपे रोगातङ्के समुत्पन्ने वा भक्तप्रत्याख्यानं विदधति । किं बहुनोक्तेन ? यत्कृतेऽयमयोगोलकवन्निरास्वादः करवालधारामार्गवद्दुरध्यवसायः श्रमणभावोऽनुपालयते तमर्थं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यमाराध्याऽव्याहृतमेकमनन्तं केवलज्ञानमवाप्नुवन्ति, केवलज्ञानावसिरेरुर्ध्वं सर्वदुःखविमोक्षणलक्षणं मोक्षमवाप्नुवन्ति । एके पुनरेकया अर्चया-एकेन शरीरेण एकस्माद्वा भवति सिद्धिर्गतिं गन्तारो भवन्ति, अपरे

अज्ञातो-ऽनुपदर्शितस्वाजन्यादिभावः सञ्चरति यः स तथा । ' दिङ्गलाभिए 'त्ति दृष्टस्यैव भक्तादेर्दृष्टाद्वा-पूर्वोपलब्धाहायकालाभो यस्यास्ति स दृष्टलाभिकः । ' अदिङ्गलाभिए ' तत्रादृष्टस्यापि अपवरकादिमध्यान्निर्गतस्य श्रोत्रादिभिः कृतोपयोगस्य भक्तादेरदृष्टाद्वा-पूर्वगुणलब्धाहायकालाभो यस्यास्ति स तथा । ' पुङ्गलाभिए 'त्ति पृष्टस्यैव ' हे साधो ! किं ते दीयते ? ' इत्यादिप्रश्रितस्य यो लाभो यस्यास्ति स तथा । ' अपुङ्गलाभिए 'त्ति [पृष्टलाभिकविपर्ययात् । ' भिक्षुखलाभिए 'त्ति] भिक्षेव भिक्षा-तुच्छमवज्ञातं वा, तलाभो प्राप्यतया यस्यास्ति स भिक्षालाभिकः । ' अभिक्षुखलाभिए 'त्ति वक्तविपर्ययात् । [अज्ञातचरका-अज्ञातगृहेषु चरन्तीत्यभिप्रवन्तः] । ' यन्नगिलायए 'त्ति अन्नं-भोजनं विना ग्लायति (यः स) अन्नग्लायकः, स चाभिप्रहविशेषात्प्रातेव दोषाऽत्रमुगिति । ' उपनिहिय 'त्ति उपनिहित [यथा कथञ्चिरासञ्चीभूतं, तेन चरति यः रा औपनिहितकः] " इत्यादि ।

* ' धृतं ' अपनीतं केशदृग्शुलोमनखादिकं यैस्ते तथा इति बृहद्भूतौ ।

पुनः शक्तिपारिजातो ननि नन्तर्भगनाः तालं कृत्वाऽन्यतमेषु वैषानिरेषु देवैर्गुत्पद्यन्ते, तेषुन्द्रमामानिक-
 यायनिवृत्तेश्चैतानांसांसा[न]रायक्षीर्णेषु नानाविधममृद्विषु मान्तीति, नत्याभियोगिककिलिापि क्वादिभ्यिति । ' तं जहे '-
 त्यादि, तप्या-महर्थाःपु रानोःकूपुरायन्ते । ते देवास्त्वेवम्भूता मान्तीति दर्शयति—

ते णं तत्थ देवा भवन्ति—[महिद्विया महज्जुत्तिया जाव महासुक्खा] हारविराइयवच्छा
 कडुगन्तुदियथंभियभुया अंगयकुंडलमटुगंडतलकणगापीढधारी विचिच्चत्थाहरणा विचिच्चत्तमाला-
 मउल्लिमउडा कड्ढाणगपत्तरत्थपरिहिया कड्ढाणगपत्तरमह्हाणुलेत्तणधरा भासुरबोदी पलंबवणमाल-
 भगा । दिवेणं रुधेणं दिवेणं वणणेणं दिवेणं गंधेणं दिवेणं संघाएणं दिवेणं संघाएणं दिवेणं संघाएणं
 दिवाए इत्थीए दिवाए जुत्तीए दिवाए पभाए दिवाए छायाए दिवाए अच्चाए दिवेणं तेष्णं दिवाए
 लेत्ताए दग्गदिगाओ उज्जेविमाणा पभासेमाणा गतिकड्ढाणा ठिइकड्ढाणा आगमेसिभद्दया यावि
 भांनि । एग ठाणे आयरिए, जाव सवहुत्तलपहीणमग्गे एंगंतसम्मं सुसाहू दोच्चस्स ठाणस्स
 भस्सपत्तयस्स विभंगे एत्थमाहिए ॥ सु० २३ ॥

व्याख्या—' तं णं तत्थ देवा' इत्यादि, ते देवा नानाविधतपश्चरणोपात्तशुभकर्मणिो महद्धर्मादिगुणोपेता भवन्ती-

त्यादिकः सामान्यवर्णकस्तथा द्वारविराजितवक्षम इत्यादिक आभरणवस्त्रपुष्पवर्णकः । पुनरतिशयापादनार्थं दिव्यरूपादि-
प्रतिपादनं चिकीर्षुराह— ' दिग्भवेणं रूवेणं ' दिव्यरूपेण दिव्यया द्रव्यलेख्ययोपेताः दशापि दिशः समुद्धोतयन्तो गत्या
शीघ्ररूपया कल्याणाः, तथा स्थित्योत्कृष्टमध्यमया कल्याणास्ते भवन्ति । तथाऽऽगामिनि काले भद्रकाः शोभनमनुभयभव-
सम्पदुपेताः, तथा सद्धर्मप्रतिपत्तारश्च भवन्तीति । तदेतत्स्थानमाद्यर्थमेकान्तेनैव सम्यग्भूतं सुसाधिवति । एतद्द्वितीय[स्य]
स्थानस्य धर्मपाक्षिकस्य विभङ्ग एवमाख्यातः ।

अहावरे तच्चस्स ठाणस्स सीसगस्स विभंगे एवमाहिज्जति—इह लु पाईणं वा ४ संतेगतिया
सणुस्सा भवंति, तं जहा—अपिच्छा [अप्पारंभा] अप्पपरिगहा धम्मिया धम्माणुया जाव धम्मणेणं
चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति । सीला सुवया प्पडियाणंदा साहू एग ओ पाणाइवायाओ
पडिविरया जावज्जीवाए एगच्चाओ अप्पडिविरया जाव जे यावन्ना तहप्पगारा साव । अबोहिया
कम्मंता परपाणपरितावणकरा कंति, ततोवि एग ओ अप्पडिविरया ।

व्याख्या—अथापरस्य तृतीयस्य स्थानस्य मिश्रकारुयस्य विभङ्गः समाख्यायते—एतच्च यद्यपि मिश्रत्वाद्धर्माऽधर्मा-
भ्यामुपपेतं भवति [तथापि] धर्मभूयिष्ठत्वाद्भार्मिरूपश्लेषवतरति, तद्यथा—बहुषु गुणेषु मध्यपतितो दोषो नात्मानं लभते,
कलङ्क इव चन्द्रिकायाः, तथा बहुदकमध्यपतितो मुञ्छकलावयवो नोदकं कलुषयितुमलं, एवमधर्माऽपि धर्ममिति स्थितं ।

यन्तौ निधाय जोगति भार्मिस्तरे ऽऽवतरति । इह खलु जगति प्राच्यादिदिक्षु ' एके ' केचन शुभकर्ममाणो मनुष्या भवन्तीति,
 चन्द्रेन्द्या रत्नरश्मिपदारम्भा, एवंविधा धार्मिकरुचयः प्रायः सुशीलाः सुव्रताः सुप्रत्यानन्दाः साधवो भवन्तीति । ते च
 प्रहृष्टान् ध्यून्धान्पून्वकान् प्रनिनितुता, एरुस्माच्च सूक्ष्मादारम्भजादप्रतिविरताः, एवं शेषाण्यपि व्रतानि संयोज्यानीति ।
 ' नो ग्या रते ' ये चान्ये मायाया नरकगतिहेनवः कर्मममारम्मास्तेभ्य एरुस्माद्यन्त्रपीडानिर्लाञ्छनादिभ्यो निवृत्ता एरुस्माच्च
 लारिहपांगनिनुता इति । तांश्च विशेषतो दर्शयति—

से जहा नामए समणोवासगा भवंति—अभिगयजीवाजीवा उवलच्छपुन्नपावा आसवसंवर-
 येययाणिजराकिरियाहिगरणवंधमोक्खकुसला असहिजा देवासुरनागसुवणजक्खलखसकिन्नरकिं-
 पुरिसगळ्ळंगंधमहोरगमाडएहिं देवगणेहिं निगंगथाओ पात्रयणाओ अणइक्कमणिजा, निगंगथे
 पात्रयणे निस्संकिया निक्कंखिया णिवित्तिगिच्छा, लच्छट्टा गहियट्टा पुच्छियट्टा विणिच्छियट्टा अभि-
 गयट्टा अट्टिमिजेमाणुरागरत्ता, अयमाउत्तो ! निगंगथे पात्रयणे अट्टे अयं परमट्टे सेसे अणट्टे,
 ऊगियफलिदा अवंगुयट्टुवारा अचियत्तंतेउरपरघरप्पवेसा, चाउइसट्टमुद्धिट्टुपुणमासिणीसु पडिपुणं
 पोमदं नम्मं अणुपालिमाणा, समणे निगंगथे फासुयएसणिजेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वरथ-

पडिगहकंबलपायपुंछणेणं [ओसहभेसज्जेणं] पीढफलगसिज्जासंथारएणं पडिलाभेसाणा बहूहिं
सीलवययुणेत्रेमणपच्चवखाणपोसहोववासेहिं अहापरिगहिएहिं तवोकस्मेहिं अप्पाणं भावेसाणा
विहरंति, ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरसाणा बहूइं वासाइं समणोवासगपरियाथं पाउणंति,
पाउणिता आवाहंसि उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि वा बहूइं भत्ताइं अणसणाए (पच्चवखायंति),
पच्चवखाइत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए (छेदंति), च्छेदिता आलोइयपडिक्कंत्ता समाहिपत्ता कालमासे
कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तं जहा-सहिद्धिएसु महजुइएसु
जाव महासुक्खेसु, खेसं तहेव जाव एस ठाणे आरिए जाव एगंतसस्मे साहू, तच्चस्स ठाणस्स
भीसगस्स विभंगे एवं आहिए ।

व्याख्या—अयं भ्रमणोपामकवर्णकः सुगम एव, विशेषार्थिना बृहद्दीका विलोकनीया, अत्र ग्रन्थगौरवभयाद्व्याख्या
न लिखिता । नगरं—'ऊसियफल्लिहा' उक्खितानि स्फटिकानीव स्फटिकान्यन्तःकरणानि येषां ते तथा, एतदुक्तं भवति—
मौनीन्द्रदर्शनायाप्तौ सत्यां परितुष्टमानसा इति । तथा अप्राप्तानि द्वाराणि यैस्ते तथा, उद्घाटितगृहद्वारास्त्विच्छन्ति, सदृशं न-
लाभेन न क(स्माच्चि)स्यचि(?) द्विभेति, शोभनमार्गपरिग्रहेणोद्घाटितशिरसो विश्रब्धं—तिष्ठन्तीति । अपरं सर्वं सुगमम् ।

पुत्रान् तन्वानं-परमगया मुच्यन्तिषात्प्रिति क्रताऽऽर्धमिन्धेनं विमद्भस्वृतीयस्य स्थानस्य मिश्रकाख्यस्याऽऽख्यात
ः। उक्ताः गार्धमता यथाधिमकाथ, तद्गुणयह्यथाभिदिताः। गार्धमतमेतदेव स्थानत्रिकं संक्षेपतो विमणिपुराह—

अत्रिगर्नि पडुच्च नाले आहिजति, विरतिं पडुच्च पंडिए आहिजति, विरयाविरइं पडुच्च बाल-
पंडिए आहिजति, तत्थ णं जा सा सबओ अचिरती एस ठाणे आरंभट्टाणे अणारिए जात्र असव्व-
दुख्खपरहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू । तत्थ णं जा सा सबतो विरती एस ठाणे अणारंभट्टाणे
(एव ठाणे) आरिए जात्र सबहुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मं साहू । तत्थ णं जा सा सबओ
विमयाविरइं एव ठाणे अणा[आरंभणोआ]रंभट्टाणे, एव ठाणे आरिए जात्र सबहुक्खप्पहीणमग्गे
एगंतसम्मं साहू ॥ [सू. २४] ॥

भाष्या—येषामपिगनिरगंमरूपा, मग्गक्त्तामात्रान्मिथयाहृष्टेर्द्व्यतो विरतिरप्यविरतिरेव, तां ' प्रतीत्य ' आश्रित्य
वाचोऽपः, तदनदिनेरुक्तिक्त्तादित्येययाचीयते-व्यवस्थाप्यते आख्यायते वा, विरति प्रतीत्य पण्डितः, तथा विरताविरति
योन्य वाच्यपण्डित इत्येवम्यागादायोज्यमिति । ' तत्थ ण ' मित्यादि, तत्र पूर्वोक्तेषु स्थानेषु येयं सर्वस्मादविरति-
विमलित्तिनामापातः, नरेनन्वानं नापशरभस्थानं, एतदाश्रित्य मर्वाणि [अ]कार्याणि क्रियन्ते, अत एतदनार्यस्थानं,
निशयद्रापा यकिञ्चनकारित्वान्, यावन्नर्नदुःखप्रहीणमार्गोऽयं एकान्तमिथ्यारूपोऽपाधुरिति, तत्र च येयं ' विरतिः '

सम्यक्त्वपूर्विका सावधारममान्निवृत्तिः, सा स्थगिताश्रवद्वारत्वात्पापा[नुपादानरूपेति] ब्रिचुत्तवात् (१) । एतत्स्थानमना-
 रमस्थानं सावद्यानुष्ठानरहितत्वात्संयमस्थानं, तदेतत्स्थानमार्यस्थानं अशेषकर्मक्षयमार्गः, तथैकान्तसम्यग्भूतः, एतदेवाऽह-
 साधुरिति साधुभूताऽनुष्ठानात् । तत्र चेयं या विस्ताविरतिरभिधीयते सा मिश्रस्थानभूता, तदेतदारम्भानारम्भस्थानं, एतदपि
 कथञ्चिदार्यमेव, पारम्पर्येण सर्वदुःखप्रक्षीणमार्गस्तथैकान्तसम्यग्भूतः साधुश्चेति । तदेवमनेकविधोऽयमधर्मपक्षो धर्मपक्षो
 मिश्रपथश्चेति संक्षेपेणाभिहितः । मिश्रपक्षोऽप्यनयोरेवान्तर्वर्ती भवतीति दर्शयति—

एवामेव समणुगममाणा+ इमेहिं चेव दोहिं ठाणेहिं समोअरंति, तं जहा—धम्ममे चेव अधम्ममे
 चेव उवसंते चेव अणुवसंते चेव, तत्थ णं जे से पढम[स्स]ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे
 एवमाहिए, तत्थ णं इमाइं तिन्नि तेवट्टाइं पावाउयसयाइं भवंतीति मव । [याइं]यं । तं जहा—
 किरियावाईणं अकिरियावाईणं अन्नाणियवाईणं वेणइयवाईणं, तेवि [परि]निवाणमाहंसु, तेवि
 पल्लिमोक्खमाहंसु, ते वि लवंति सावगा ते वि लवंति सावइत्तारो ॥ [सू. २५]

व्याख्या—‘एवमेवे’त्यादि, एवमेव संक्षेपेण ‘समणुगम्यमाना’ व्याख्यायमाना ‘अनयोरेव’ धर्माधर्मस्थानयोरनु-

+ ‘समणुगिज्झमाणा’ इति पाठान्तरं ‘सम्यगणुगुह्यमाणः’ इत्यर्थश्च हर्ष० ।

चरति । स्व ! गुरुशान्दस्यानं तद्धर्मपथध्यानं [मनुष्यान्तस्थानमधर्मपक्षस्थानो गिति, तत्र च गद्यधर्मपथशिक्षकं प्रथमं
 स्थानं प्राप्तुं योनिं विपश्यन्पिक्तानि प्राप्नुवन्तान्यन्तर्भवन्ति, एवमाख्यातं पूर्वोच्यते । एतानि च सामान्येन
 दर्शयित्वा— 'सं जहा' इत्यादि, तत्र क्रियायादिनाः ज्ञानरहिता क्रियाः स्वर्गपथगमाधिकं चरन्ति, ते क्रियायादिनाः
 स्थिता एव मोक्षपदार्थानि ज्ञाताः । तत्र क्रियायादिनामधीत्युत्तरं ज्ञतं, अक्रियायादिनां चतुरशीतिः, अज्ञानिकानां सप्तपष्टिः,
 ज्ञानरहितानां त्रिंशदिति । एते सर्वेऽपि पाराङ्मुखाः मोक्षमार्गं कथयन्ति, तेऽपि प्राणाङ्मुखाः संसारबन्धनान्मोचनार्थकं
 भाषयन्तः । 'तेऽपि' तीर्णिकाः 'न्ययन्ति' चरन्ति—मोक्षं प्रति धर्मदेशनां निदधतीति । शृण्वन्तीती श्रावकाः, अहो श्रावकाः !
 एवं शृण्वीत्युच्यं यथाऽहं देवयामीति । तथा तेऽपि धर्मभ्रान्तितारा मन्तः एवं 'लगन्ति' भाषन्ते यथाऽनेनोपायेन स्वर्ग्ये-
 मोक्षमार्गमिति, न तत्र न मिथ्याचोपहन्तुद्युःश्रितयमेव गृह्णन्ति, कूटपण्यदायिनां निपर्यस्तमतय इयेति, तथा कथमेते
 पाराङ्मुखाः च यद्विमां प्रतिपारयन्ति न तत्र तां प्रधानमोक्षाङ्गभूतां सम्यग्भुतिपुन्रिति । तथा सर्वे प्राणाङ्मुखाः मोक्षाङ्गभूतामिति
 यथापाम्येन पतिपत्तने इति दर्शयित्वा—

ते संतं पात्राड्या आङ्करा धम्माणं नाणापक्षा नाणाछंदा नाणासीला नाणादिट्टी नाणारुई
 नाणागंभा नाणाज्जससणाणसंजुत्ता एगं महं मंडल्लिचंभं किच्चा सत्थे एगओ चिट्ठंति । पुरिसे य

० " निजयत्तरेणो भयन्तीनि १ भगोचयते—यत्तरोऽपि " इति युक्तवृत्तौ ।

सागणियाणं इंगालाणं पातिं बहुपडिपुन्नं अओमएणं संडासएणं गहाय ते सब्बे पावाउए (.प्रावाडुकान्)
 आदिगरे धम्ममाणं नाणापन्ने (प्रज्ञान्) जाव नाणाऽज्झवसाणसंजुत्ते एवं वयासि—हं भो पावाउया !
 आइगरा धम्ममाणं नाणापन्ना जाव नाणाऽज्झवसाणसंजुत्ता ! इमं ताव तुब्भे सागणिया ं इंगलाणं
 पाइं बहुपडिपुन्नं गहाय सुहुत्तयं सुहुत्तयं पाणिणा धरेह नो बहुसंडासगसंसारियं —ज्जा नो बहु
 अग्गिथंभणियं कुज्जा नो बहुसाहम्मिय*वेयावडियं (वैयावृत्तयं) । नो बहुपरधम्मियवेयावडियं
 कुज्जा उज्जुया नियागपडिवन्ना असायं कुवसाणा पाणिं पसारेह, इति बु । से पुरिसे तेसिं पावा-
 दुयाणं तं सागणियाणं इंगालाणं पातिं बहुपडिपु । अओमएणं संडासएणं गहाय पाणिं निसि-
 रति, तए णं ते पावाडुया आदिगरा धम्ममाणं नाणाप । ।व नाणाज्झवसाणसंजुत्ता पाणिं पडि ।-
 हरंति (सङ्कोचयेयुः), तए णं से पुरिसे ते सब्बे पावा[उए]इयाणं आदिगरे धम्ममाणं जाव ना ।-
 ज्झवसाणसंजुत्ते एवं वदासी—हं भो पावाडुया ! आदिगरा धम्ममाणं (णाणाप ।) व ना ।-

* साधम्मिकानामग्निदाहोपशमनाऽदित्थोपकारं कुरुतेति ।

अथागाणमंजुता ! कम्हानं तुम्हे पाणिं पडिसाहरह ? पाणी नो डहेज (दधाति) दडे किं भविस्सइ ?
 [दसा] द्दामंति मत्तमाणा पाणिं पडिसाहरह, एस तुला एस पमाणे एस समोसरणे, पत्तेयं
 तुला पत्तेयं पमाणे पत्तेयं समोसरणे, तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइत्थंति जाव पत्थविति—
 मरे पाणा जाग मरे सत्ता हंतता अजायेयथा परिधेत्ता परितानेयथा किलामेतथा उद्दयेयथा, ते
 आगंतु हेयाए ते आगंतु भेयाए जाग ते आगंतु जाइजरामरणजोणिजम्मणसंसारपुण्णम्मणगम्भना-
 मभावांच कलंकलीभाणि नो भविस्संति, ते बहूणं दंडणाणं बहूणं मुंडणाणं तज्जणाणं तालणाणं
 अंरुंणणाणं जाग चोलणाणं माइमरणानं पिइमरणानं भाइमरणानं भइणीमरणानं भजामरणानं
 पुजमरणानं भूगामरणानं सुण्हामरणानं दरिदाणं दोहग्गाणं अप्पियसंवासाणं पियविष्पओगाणं
 तद्वणं इत्थदीम्मणस्सताणं आभाणि नो भविस्संति, अणादिं च णं अणत्तद्वणं दीहमच्चं चाउरंत-
 मंग्गाकंनारं भुजो भुजो अणुपरियाह्विस्संति, ते णो सिद्धिस्संति नो बुद्धिस्संति जाव नो सत्त-
 दागाणमंतं करिस्संति, एस तुला एस पमाणे एस समोसरणे, पत्तेयं तुला पत्तेयं पमाणे पत्तेयं

समोसरणे । तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्कंति जाव पळ्वित्ति—सवे पा । । व सवे ता
न हंतवा जाव न उह्वेयवा, ते णो आगंतुं छेयाए णो आगंतुं भेयाए जाव जाइ रामरणजोणि-
जम्मणसंसारपुणवभवगवभवासभवपंचकलंकलीभागिणो णो भविस्संति । ते णो बहूणं दंड ।
जाव बहूणं दुक्खदोम्मणस्साणं नो आभागिणो भविस्संति, अणादियं च । अणवदगं दीह छं
चाउरंतंसारकंतरं भुज्जो भुज्जो नो अणुपरियट्ठिस्संति [ते सिद्धिस्संति] । व बहुक्क । तं
करिस्संति ॥ [सू. २६]

व्याख्या—‘ ते सन्धे ’ इत्यादि, ते सर्वे प्रावादुकास्त्रिपटुत्तरशतत्रयपरिमाणा अप्यादिकराः यथा स्वं धम्मर्णिणां,
तथा ‘ नाना ’ भिन्ना ‘ प्रज्ञा ’ ज्ञानं येषां ते नानाप्रज्ञाः, तथा नानाछन्दा—भिन्नाभिप्रायाः, तथा ते नानाऽध्यवमया,
ते सर्वेऽपि प्रावादुका यथा स्वं पथमात्रिताः एकत्र प्रदेशे मण्डलिवन्धमाधाय तिष्ठन्ति, तेषां चैवं व्यवस्थितानामेकः
कश्चित्पुरुषस्तेषां प्रतिबोधनार्थं ज्वलतामङ्गाराणां प्रतिपूर्णां ‘ पार्ती ’ अयोमयं भाजनं लोहमयेन मन्दंशकेन गृहीत्वा तेषां
दौकितवान्, उवाच च—भोः प्रावादुकाः ! इदमङ्गारशृतं भाजनं एकैकं गृह्यते प्रत्येकं विभृतं यूपं, न चेदं सन्दंशकं साँसारिकं
नापि चाग्निस्तम्भनं विघ्नत नापि साधर्मिकान्यधार्मिकानामग्निदाहोपशमादिनोपकारं कुरुतेति ‘ ऋत्तवो ’ मायामकुर्वाणाः

नातिपमासा, तेऽपि च तेषां कृत्रुः, ततोऽसौ पुरुषस्तद्भाजनं तत्पाणौ समर्पयति, तेऽपि च दाहशक्त्या हस्तं सङ्कोचयेयुरिति ।
 ततोऽसौ गान्गा-रिमिति पाणि प्रनिमंहरत ? यूयं, एवमभिहितास्ते ऊचुः-दाहभयादिति । एतदुक्तं भवति-अवश्य-
 मग्निशहस्रगात्र रुचिदन्वयमिमुं पाणि ददातीत्येतत्परोऽयं दृष्टान्तः । [म नरः प्राह-] पाणिना दग्धेनापि किं भवतां
 मरिष्याति ? दुःखमिति नेमघोः दाहमीरसो यूयं सुखाभिलाषिणश्च, तदेवंमति मर्वेऽपि जन्तवः संसारोदरविवरवर्तिन एवम्भूता
 एतेन्येऽमानुसया-ऽऽन्मौरम्येन यथा मम नाभिमनं दुःखमेवं मर्वजन्तुनामित्यत्रगम्याहिंसेत्र प्राधान्येनाऽऽश्रयणीया ।
 'परांश्रयमानं' नैवा पुक्तिः " आत्मचतुर्मुखं भूतानि, यः पश्यति स पश्यति " तदेतत् समवसरणं-स एव धर्मविचारो
 यथाहिना मर्त्यां, तेषां परमान्तो धर्म इत्येवं व्यस्यते तत्र ये केचन विदितपरमार्थाः श्रमणब्राह्मणादयः 'एवं' वक्ष्य-
 मानमाधो-परेणो मापन्नं, तेषां धर्मं ' प्रज्ञापयन्ति ' व्यत्रस्थापयन्ति, तथाऽनेन प्राण्युपतापकारिणा प्रकारेण धर्म
 दन्तरपन्ति, तथाऽऽन्मौरम्यादय इत्येवं प्राज्ञा इत्यादि, यावदन्तव्या दण्डादिभिः, परितापयितव्याः धर्मार्थमरघदुवहनादिभिः, परिग्राह्याः
 भाद्राशौ गीहामन्म्यादय इव, तथाऽपद्रारयितव्या देवतायागादिनिमित्तं छागादयः, इत्येवं ये श्रमणादयः प्राणिनामुपताप-
 कारिणां माता मातानो ने आगामिनि काले ' अनेकशो ' बहुगः स्वगरीरच्छेदाय मेदाय च भापन्ते, तथा ते सावद्य-
 मातानो मरिष्यति काले ज्ञानिचरापरणानि बहूनि प्राप्नुवन्ति । [योन्यां जन्म] योनिजन्म, तदनेकशो गर्भव्युत्क्रान्तजा-
 ररुषाणां प्राप्नुवन्ति, तथा मंमारप्रपञ्चान्तर्गताः कलकूलीमात्रमाजो भवन्ति बहुशो मरिष्यन्ति च, तथा ते बहूनां
 दन्दादीनां [त्रागीगतां] दुःखानामात्मानं भाजनं कुर्वन्ति, तथा ते मातृमरणादीनां मानसानां दुःखानां तथाऽन्येषामप्रिय-

सम्प्रयोगार्थनाशादिभिर्दुःखदौर्मनस्यानामाभागिनो भविष्यन्ति । तथाऽनाद्यनवदग्रं-अनाद्यनन्तं संसारकान्तारं भूयो-भूयः अनुपरिवर्तिष्यन्ते, अरघद्वेषटीन्यायेन तत्रैव अमन्तः स्थास्यन्ति । तथा ते कुप्रावचनिकाः नैव सेत्स्यन्ति, नैव ते सर्वपदार्यान् भोत्स्यन्ते नैव ते संसारान्मोक्ष्यन्ते, तथा परिनिर्वृतिः-परिनिर्वाणमानन्दं नैव लप्स्यन्ते । न च ते सर्व-दुःखानामन्तं करिष्यन्ति, एवं स्वयूद्यया अपि सावद्योपदेशतया न सेत्स्यन्ति । एषा तुला एतत्समवसरण-मागमविचार रूपं द्रष्टव्यमिति । तथा ये पुनर्विदिततच्चा एवं प्ररूपयन्ति-सर्वेऽपि जीवा दुःखद्विषः सुखलिप्सवोऽतो न हन्तव्या इति भापन्ते ते पूर्वोक्तं दण्डनादिकं न प्रास्यन्ति, संसारकान्तारमचिरेणैव व्यतिक्रमिष्यन्तीत्यादि सर्वं पूर्वोक्तं भणनीयमिति । भणितानि क्रियास्थानानि, अथ पूर्वोक्तमेव संक्षेपेण कथयति—

इच्चेएहिं बारसहिं किरियाठाणेहिं वट्टमाणा जीवा नो सिंझिसु जाव नो सबहुक्खा . अंतं करिसु वा [णो] करिति वा [णो] करिस्संति वा, एयंसि चव तेरसमे किरियाठाणे वट्ट [णो] जीवा सिंझिसु बुंझिसु सुच्चिसु परिनिवाइंसु जाव सबहुक्खाणं अंतं करिसु वा करिति वा करिस्संति वा । एवं से भिक्खू आतट्ठी (आत्मार्थी) आयगुत्ते आयजोगे आयपर मे आयरक्खिए आयणुकंपए आयनिप्फेडए आयाणमेव पडिसाहरिज्जासि तिबेमि [सू० २७] । वीयसुयक्खंधस्स किरियाठाणं नाम वीयमज्झयणं समत्तं ॥

इत्याद्या—इत्येतेषु शब्दश्रुतियाभ्यानेन्द्रवर्मपक्षः ममवतार्यते, तत्र एतेषु वर्तमाना जीवा नातीते काले सिद्धा न सिद्ध्यन्ति
 न संस्रवन्ति, तथा न प्राप्तुं बुद्धान्ते न मोह्यन्ते, तथा न मुमुक्षुर्न मुञ्चन्ति न च मोक्ष्यन्ते, न निर्धृता न निर्वाप्ति न
 वा निर्वाप्स्यन्ति, तथा न सादृश्यानामन्त्रं यश्रुर्न च यान्ति न च यास्यन्ति । माम्प्रतं त्रयोदशं क्रियास्थानं धर्मपक्षाश्रितं
 संवित्तुमाह—'तयंमि' इत्यादि, एतस्मिन्प्रयोदशे क्रियास्थाने वर्तमानाः जीवाः सिद्धयन्ति सेत्स्यन्ति यावत्सर्व-
 दृश्यानामन्त्रं कृत्स्नानीति चिन्ताम् । तदंशं न भिक्षुयः पुण्डरीकाक्षयनेऽभिहितो द्वादशक्रियास्थानवर्जकः अथर्मपक्षाबुप-
 यत्तत्स्यार्थी यस्मैपद्ये चिन्ता उपगान्तः आन्माथ्या—ऽऽत्मार्यमात्रकः आत्महितः आत्मगुप्तः आत्मयोगी—सदा धर्मव्याना-
 र्थिनाः, तथा पापेभ्यो—दृग्गोनिगमनादिभ्यः आत्मा रक्षितो येन स आत्मरक्षी, मावद्यानुष्ठानान्निवृत्त इति भावः । तथाऽऽत्मान-
 मनुहृत्परी—द्रुमाऽनुष्ठानेन महानिगामिनं विवने, तथाऽऽत्मानं [संयमेन] संमारचारकान्निस्सारयति, तथाऽऽत्मानमनर्थभूतेभ्यो
 शब्दश्रुतियाभ्यानेभ्यः प्रनिगदरेन, तथाऽऽत्मानं यर्पानर्थभ्यो निवर्त्तयेदिति । एतच्च महापुरुषे सम्भाव्यते । इतिः परि-
 नमार्यं, परीक्षीति प्राप्तु, श्रीगुप्यमेवामी जम्भून्वामिनमुद्दिश्य भाषते—श्रीवर्द्धमानस्वामीसमीपे मयैतच्छ्रुतं तद्भवतो
 निर्दिशं, न शक्यनीतिरुत्तेति यमासं क्रियास्थानाख्यं द्वितीयमध्ययनमिति ।

परराधि तथा पुण्य, क्रियास्थान विवृण्वता । तेन पुण्येन लोकोऽयं, भूयादानन्दमेदुरः ॥ १ ॥

इति श्रीपरमशुभित्तत्परतगच्छविभूषणपाठकप्रवरश्रीमत्माधुरह्मणिवरकृतायां श्रीमत्सूत्रकृताङ्गदीपिकायां

द्वितीयश्रुतस्कन्धे द्वितीयमध्ययनं समाप्तम् ॥

आहारपरिज्ञाभिधं तृतीयमध्ययनम् ।

अथ आहारपरिज्ञाख्यं तृतीयमध्ययनं प्रारभ्यते । तथाहि—

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमवखायं—इह खलु आहारपरिज्ञानाम अञ्जयणं, तस्स णं अयमट्ठे पन्नत्ते, इह खलु पार्इणं वा ४ सन्नतो सन्नावंति च णं लोणंसि चत्तारि बीयकाया एव-
माहिजंति, तं जह्वा—अग्गबीया मूलबीया खंधबीया, तेसिं च णं अह्वाबीएणं अह्वावगासेणं
इह एगतिया सत्ता पुढविजोणीया पुढविसंभवा पुढविट्ठु मा य, तज्जोणीया तस्संभवा तदुवक्कमा
कम्मोवगा कम्मनियाणेणं तत्थ बुक्कमा णाणाविहजोणियासु पुढवीसु रुक्खत्ताए विउट्ठंति । ते
जीवा तेसिं नाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारिंति, ते जीवा आहारैति पुढविसरीरं आउ-
सरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं, नाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अच्चित्तं कुवंति,
परिविद्धत्थं तं सरीरं पुवाहारियं तथाहारियं विपरिणाभियं सारुवि[य]कण्डं संतं, अवरे वि य
तेसिं पुढविजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा नाणावपणा नाणागंधा नाणारसा नाणाफासा नाणासंठाण-

संख्या नाणाविह्वरीरपुगलत्रिउविता ते जीवा कम्मोवन्नगा भवंतीति मक्खायं ॥ [सू० १] ॥

‘यान्या—’ सुयं मे ’ मुममंस्वामी जम्बूस्वामिनमुद्दिश्यैतदाह, तद्यथा—थुतं मया आयुग्मता भगवतेदमाख्यातं, याहारगिरेदमस्वयन, नस्य नायमर्थः—प्राज्यादिदिक्षु ‘मर्वत’ इत्युद्धीविो विदिक्षु च सर्वस्मिँल्लोके चत्वारो ‘बीजकाया’ बीजपक्षायाः—ममुन्यन्निमेदा मान्ति, तद्यथा—अग्रे बीजं—येषां तेऽप्रवीजाः तलतालीसहकारादयः शाल्यादयो वा, यदि वा नशानंतीत्यनौ हारगता प्रतिपद्यन्ते येषां ते कोरण्टादयः । तथा मूलबीजा आर्द्रकादयः, पर्वबीजा इक्ष्वादयः, स्कन्धबीजाः मन्त्रपादाः, नैरा च चतुर्भिधानामपि वनस्पतिक्रायानां यद्यस्य ‘बीज’मुत्पत्ति कारणं तद्यथाबीजं, यथा शाख्यलुरस्य ज्ञानिबीज—मुन्यन्निवारणं, एवमन्यदपि द्रष्टव्यं, ‘यथाऽवकाशे’ति यो यस्यावकाशः—यद्यस्योत्पत्तिस्थानं, अथवा भूम्यम्बु-राज्जासन्नबीजनयोगा यथाऽवकाशे गृह्यन्ते, तदेवं यथाबीजं यथाऽवकाशेन चेहाऽस्मिञ्जगति ‘ एके ’ केचन सत्त्वा ये तथार्थस्मर्मादयात्तनस्यनिपून्निपत्साम्ने हि वनस्पताद्युत्पद्यमाना अपि पृथिवीयोनिका भवन्ति, यथा तेषां वनस्पतिर्बिजं—जगत्तं, तन्नायार विनोन्पत्तिर्न स्यात् तेन पृथिवीयोनिका इत्युच्यन्ते, यथा सेवालकईमानामुत्पत्तौ आधारभूतमम्मः, तथा ‘ पृथ्विमंभरा ’ पृथिव्यां वनस्पतिक्रायमम्मवः, तथा ‘ पुढचिबुक्कमा ’ पृथिव्यां ‘ व्युत्क्रमो ’ वृद्धिर्भवति, [एं १ १] गणोनिहासन्मम्भरास्तदुच्युत्क्रमाः, अर्थः पूर्ववत् । तथा ‘ कम्मोवगा ’ ते हि तथाविधेन वनस्पतिक्राय-पदमोऽन रुम्भेना प्रेयमाणान्जन्वेव वनस्पतिपूप-सामीप्येन तस्यामेव पृथिव्यां गच्छन्तीति कम्मोपगा भण्यन्ते, ते हि कम्म-

पशुमा वनस्पतिकायादागत्य तेभ्येन पुनरपि वनस्पतिपूत्पद्यन्ते, न चाऽन्यत्रोष्णान्यत्र भविष्यन्ति, यतः “ कुसुम-
 पुरोष्ठे धीजे, मथुरायां नाङ्कुरः ससुद्रवति । यत्रैव तस्य धीजं, तत्रैवोत्पद्यते प्रसवः ॥ १ ॥ ” तथा ते जीवाः
 कर्मनिदानेन-कारणेन सगाकृष्यमाणास्तत्र-पृथिव्यां वनस्पतिकाये वा व्युत्क्रमाः-समागताः सन्तो नानाविधयोनिक्कासु-
 पृथिवीबिालन्येपामपि पण्णां कायानामुत्पत्तिस्थानभूतासु सचिचाचितमिश्रासु वा श्वेतकृष्णादिवर्ण-सिक्तादिरम-युरभ्यादि-
 मन्ध-मुद्गुर्कशादिस्पृशार्दिकैर्विकल्पैर्बद्धप्रकारासु भूमिषु वृक्षतया विविधं वर्चन्ते, ते च तत्रोत्पन्नास्तासां च पृथिवीनां
 ‘ स्नेहं ’ स्निग्धभावात्तदादत्ते, स एव तेषां वनस्पतिजीवानामाहार इति, न च ते पृथिवीशरीरमाहारयन्तः पृथिव्याः
 पीडामुत्पादयन्ति । एतन्कायतेजोवायुवनस्पतीनामप्यायोज्यम् । अत्र च पीडाऽनुत्पादनेऽयं दृष्टान्तः, तद्यथा-
 अण्डोद्भवाद्या जीवा मातुरुष्मणा विवर्द्धमाना गर्भस्था वा उदरगतमाहारमाहारयन्तो नातीव पीडामुत्पादयन्त्येवमसावपि
 वनस्पतिकायिकः पृथिवीस्नेहमाहारयन्तीव तस्याः पीडामुत्पादयति उत्पद्यमानः, समुत्पन्नश्च वृद्धिसुपागतोऽसद्वशवर्ण-
 रसाद्युपेतत्वात् बाधां विदध्यादपीति । एतन्कायस्य भौमस्यान्तरिक्षस्य वा शरीरमाहारयन्ति । तथा तेजसो भस्मादिकं
 शरीरं गृह्णन्ति, एवं वाय्वादेरपि द्रष्टव्यम् । किं बहुक्तेन ? नानाविधानां त्रसस्थावराणां वच्छरीरं तत्रे समुत्पद्यमाना
 अचित्तमिति-स्वकायेनावष्टभ्य प्रासुकी कुर्वन्ति, यदि वा परिचिह्नस्तं पृथिवीकायादिशरीरं किञ्चित्परितापितं कुर्वन्ति, ते
 च वनस्पतिजीवा एतेषां पृथिवीकायादीनां वच्छरीरं ‘ पूर्वमाहासित ’मिति तैरेव पृथिवीकायादिगिरुत्पत्तिसमये आहारित-
 मासीत्-स्यकायत्वेन परिणामितमासीत्, तदधुनापि वनस्पतिजीवस्तत्रोत्पद्यमान उत्पन्नो वा ‘ स्वचा ’ स्पर्शेन आहारयति

रुखजोणियाणं रुख्खाणं सररीरा नाणावणणा नाणागंधा नाणारसा नाणाफासा ना । संठा । ठिया
 णात्रिहम्मरीरपोगलविउधिया ते जीवा कम्मोवन्नगा भवंतीति मक्खायं ॥ [सू० २]

धर्मस्यामी शिष्योद्देशेनेदमाह—अथापरं एतदाख्यातं पुरा तीर्थकरेण, तद्यथा—इहास्मिन् जगत्येके केचन
 धर्तिनः 'सस्याः' प्राणिनः वृक्षा एव योनिरुत्पत्तिस्थानमाश्रयो येषां ते वृक्षयोनिकाः । इह यत् पृथिवी-
 णामिहितं तदेतेष्वपि वृक्षयोनिकेषु वनस्पतिषु तदुपचयकर्तृ सर्वमायोज्यं, यावदाख्यातमिति । साम्प्रतं
 अधिकृत्याह—

वरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुख जोणिया रुखसंभवा रुक्कमा य त ोणिया
 वा तदुक्कमा कम्मोवगा कम्मनियाणेणं तत्थ बु मा रुक्खा रुक्खजोणिएसु रुक् ताए
 ङ्खंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहरेति, ते जीवा आहारिति पुढविसरीरं
 वाउवणस्सइसरीरं [नाणाविहाणं] तसथावराणं पाणाणं सररीरं अचित्तं कुब्बंति, परिविद्धत्थं
 वरं पुढाहारियं तथाहारियं विपरिणयं सारुविकडं संतं अवरे वि य णं तेसिं रुक् जोणि-
 णं रुक्खाणं सररीरा णाणावणणा जाव ते जीवा कम्मोवन्नगा भवंतीति मक्खायं ॥ सूत्रं ३

उपाख्या - प्रपाणसेतदाख्यात्, तदर्थायति-इहासिगुप्तमत्येके, न सर्वे, तथाविधकर्मोदयनसिनो ब्रह्मयोगिकाः
 मरुता भवन्ति तद्वनमाश्रिताभापरे वनस्पतिरूपा एव प्राणिनो भवन्ति, तथाहि-यो कोको वनस्पतिजीवः सर्वदृष्टावयव-
 व्यापी भवति, तस्य चापरे तदवयवेषु मूलकन्दरूपत्वकृष्यात्म्यापवातपुष्पवृक्षलजीवपृथेषु तत्रायु स्थानेषु लीलाः सप्त-
 स्पद्यन्ते । ते च तनोत्पथगाना ब्रह्मयोगिनः। इक्षोद्वयाः द्रव्यव्युत्कथाभोच्यन्ते । इति, शेषं पूर्ववत् । इह च
 प्राक्चतुर्धारेप्रतिपादकानि ध्याप्यमिहितानि, तथा-वनस्पतयः पृथिव्याभिताः भवन्तीत्येकं १, तच्छरीरप्रक्यापादि-
 वारी वाऽऽहारयन्तीति द्वितीयं २, तथा निद्राएतदाहारितं शरीरगन्तिसं विद्धरतं च कृत्वाऽऽत्पथात्कर्वन्तीति तृतीयं ३,
 भन्त्यान्यपि तेन पृथिवीकाययोगिनानां वनस्पतीनां शरीराणि मूलकन्दरूपक्यादीनि नानावर्णानि भवन्तीति चतुर्थं ४,
 ध्यापयानि वनस्पतिगोनिमानां वनस्पतीनामेवंविधार्थप्रतिपादकानि चतुष्प्रकाराणि ध्यापि त्रयव्यानि यावत्से लीला
 वनपत्याप्यमूलकन्दादिरूपा कर्मयोगवशा भवन्तीत्येवमाख्याताम् ॥

अक्षयं पुरवर्षायं इहेगतिया सासा रुक्खजोणिया रुक्खरांशना रुक्खल्लुक्खमा तण्णोणिया
 तसरांशना तहुत्तकमा कम्मोणगगा कम्मनिदानेणं तसथ लुक्खमा रुक्खजोणिगस्य रुक्खेस्य मूलत्ताप
 कन्दत्ताप संपत्ताप तगत्ताप सालत्ताप पत्तत्ताप पुष्कत्ताप फलत्ताप नीयत्ताप निउद्धंति,
 ते जीया तेसि रुक्खजोणिगानं रुक्खानं शिणेहमाद्धारिंति, ते जीया आद्धारिंति पुत्तविरारीं आउ-

ते उवाच वणस्सइसरीरं नाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं रीरं अचित्तं कुबंधंति परिविद्धत्थं तं
सरीरं जाव सारूविकडं संतं, अवरं वि य णं तेसिं रुक्क जोणियाणं मू । णं कंदाणं खंधाणं तयाणं
सालाणं पवालानं जात्र बीयाणं सररीरा णाणावपणा नाणागंधा जाव नाणाविहसररीरयो गगलविउव्विता
ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीति मक्खायं ॥ [सूत्रं ४]

व्याख्या—अयमालापकोऽव्याख्यात एव प्राग्वर्त्तते, अत्र तु लिखितोऽस्ति मया, (परं) सम्यग्गनाऽत्रगतोऽस्ति, तेन
विद्वद्भिः सम्यग् विचार्य वाचनीयः+ । साम्प्रतं वृक्षोपर्युपपन्नान् वृक्षानाश्रित्याह—

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्क संभवा रुक्खवु मा तज्जोणिया
तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोव[वन्न]गा कम्मनिदाणेणं तत्थ मा रुक्क जोणिएहिं रुक्क
अज्झारुहत्ताए विउट्ठंति, ते जीवा तेसिं रुक्क जोणियाणं अज्झारुहा[रुक्क ।] णं सिणेहमाहारिंति,
ते जीवा आहारिंति पुढविसरीरं जाव । रुक्किकडं संतं, अवरं वि य णं तेसिं रुक्क जोणिया ।

+ “अयापरमेतदाक्यातं—इदंके सत्त्वा वृक्षयोनिक्काः रयुः, तस्यैकस्य वनस्पत्तेर्मूलारम्भकस्य उपचयकारिणस्ते वृक्षयोनिक्का
उच्यन्ते, यदि वा मूलरूक्कादिक्काः पूर्वोक्तदशस्थानवर्त्तिनस्ते एवमुच्यन्ते । अत्रापि सूत्रचतुष्टयं प्राग्वत् ।” इति हर्ष० ।

अञ्जारुहाणं सरिरा नाणावणा जावमक्खायं ॥ [सूत्रं ५]

व्याख्या—अथापरमेतपुराऽऽख्यातं यद्ब्रह्ममाणमिहैके सत्त्वा वृक्षयोनिका भवन्ति, तत्र ये ते पृथिवीयोनिका वृक्षा-
स्तेष्वेव प्रतिप्रदेशतया ये अपरे समुत्पद्यन्ते, तस्यैकस्य वनस्पतेर्मूलारम्भकस्योपचयकारिणस्ते वृक्षयोनिका इत्यभिधीयन्ते,
तेषु च वृक्षयोनिरूपे वृक्षेषु कर्मोपादाननिष्पादितेषु उपर्युपरि अध्यारोहन्तीत्यव्यारुहा-वृक्षोपरि जाता वृक्षा इत्यभिधीयन्ते ।
ते च बह्वीवृक्षाभिधानाः कामवृक्षामिधाना वा द्रष्टव्यास्तद्भावे चापरे वनस्पतिकायाः समुत्पद्यन्ते वृक्षयोनिकेषु वनस्पतिष्विति,
इदं प्रथमं सूत्रं । इहापि प्राग्ब्रह्मत्वानि सूत्राणि द्रष्टव्यानि, तद्यथा-वृक्षयोनिकेषु वृक्षेष्वपरेऽध्व्यारुहाः समुत्पद्यन्ते, ते च
तत्रोत्पन्नाः स्वयोनिभूतं वनस्पतिशरीरमाहारयन्ति, तथा पृथिव्यपूतेजोवाय्वादीनां शरीरकमाहारयन्ति, तच्छरीरमाहारितं
सदचित्तं विद्धस्तं विपरिणामितमात्मसात्कृतं स्वकायावयवतया व्यवस्थापयन्ति, अपराणि च तेषामध्व्यारुहाणां नानाविध-
रूपरमगन्धस्पर्शोपेतानि नानासंस्थानानि शरीराणि भवन्ति, ते जीवास्तत्र स्वकृतकर्मोपपन्ना भवन्त्येतदाख्यातमिति
प्रथमं सूत्रम् १ ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता अञ्जारुहजोणिया अञ्जारुहसंभवा जाव कम्मनिदाणेणं
तस्य बुक्कमा रुक्खजोणिएसु अञ्जारुहेसु अञ्जारुहत्ताए विउद्धंति, ते जीवा तेषिं अञ्जारुह-
[रुक्ख]जोणियाणं अञ्जारुहाणं सिणेहमाहारिंति, ते जीवा[आहारिंति]पुढविसरीरं जाव

विउद्धंति, ते जीवा तेषां नाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारिति जाव
 कम्म ववन्ना भवंतीति मक्खायं १ [सू० ९] एवं पुढविजोणिएसु तणेसु तणत्ताए
 , जाव मक्खातं २ [सू० १०] एवं तणजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउद्धंति, तणजोणि-
 शीरं च आहारिति जावमक्खायं ३ । एवं तणजोणिएसु तणेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए
 ते जीवा जाव[एव]मक्खायं ४ ।

ख्या—अथापरमिदमाख्यातं यदुत्तरत्र वक्ष्यते, तद्यथा—ह्रैके सत्त्वाः [पृथिवीयोनिकाः] पृथिवीसम्भवाः [पृथिवी-
 इत्यादयो यथा वृक्षेषु चत्वार्याचत्वार आ]लापकाः एवं वृणान्यप्याश्रित्य द्रष्टव्यास्ते चामी-नानाविधासु पृथिवी-
 वृणत्वेनोत्पद्यन्ते पृथिवीशरीरं चाहारयन्ति १ । द्वितीयं तु पृथिवीयोनिकेषु वृणेपूत्पद्यन्ते वृणशरीरं चाहारयन्ति २ ।
 त्रयोयोनिकेषु वृणेपूत्पद्यन्ते वृण [योनिकं] वृणशरीरं चाहारयन्ति ३ । चतुर्थं वृणयोनिकेषु वृणावयवेषु मूलादिषु
 वृणशरीरं चाहारयन्तीत्येवं पावदाख्यातमिति ४ ।

व] ओसहीणं चत्तारि आलावगा, एवं हरियाण वि चत्तारि आलावगा [सू० ११]

ख्या—एवमौपश्याश्रयाश्चत्वार आलापका गणनीयाः, नवर-ओपधीग्रहणं ६ ६७ ११

आलापका वाच्याः । कुहणेपु त्वेक एव आलापको द्रष्टव्यः, स चायं—

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा जाव कम्मनिदाणेणं तत्थ बुक्कमा पाणाविहजोणियासु पुढवीसु आयत्ताए वायत्ताए कूहणत्ताए, कंडु[क]त्ताए उव्हलि[णि]यत्ताए निव्वेहलि[णि]यत्ताए सच्छत्ताए छत्तगत्ताए वासाणियत्ताए कूरत्ताए विउद्धंति, ते जीवा तेसिं नाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारंति, ते जीवा आहारंति पुढवीं सरीरं जाव संतं, अवरं वि य णं तेसिं पुढविजोणियाणं आयत्ताणं जाव कूराणं सरीरा नाणावणणा जावमक्खायं । इक्को चैव आलावगो, सेसा तिन्नि नत्थि ।

व्याख्या—कुहणेप्वेक एवालापको ज्ञेयः, शेषास्त्रयो न सन्ति, तद्योनिकानामपरेषामभावादिति । इह चामी वनस्पति-विशेषा लोकरुग्ग्रहारातोऽवगन्तव्याः प्रज्ञापनातो वा अवसेया इति । सम्प्रतमपक्राययोनिकस्य वनस्पतेः स्वरूपं दर्शयितुमाह—

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उद्दगजोणिया उद्दगसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थ बुक्कमा पाणाविहजोणिएसु उद्दगेषु रुक्खत्ताए विउद्धंति, ते जीवा तेसिं नाणाविहजोणियाणं उद्दगाणं सिणेहमाहारंति, ते जीवा आहारंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरं वि य णं तेसिं उद्दग-

सोर्गंधियत्ताए ढोंडरीयमहाढोंडरीयत्ताए सयपत्तत्ताए सहसपत्तत्ताए, एवं कल्हारकौकणत्ताए अरविंदत्ताए तामरसत्ताए भिसभिसमुणालपुक्खलत्ताए पुक्खलच्छिभगत्ताए विउद्धंति, ते जीवा तेसिं नाणाविहजोणियाणं उदगाणं सिणेइमाहारिंति, ते जीवा आहारिंति पुढविसरीरं जाव संतं, अत्रे वि य णं तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं जाव पुक्खलच्छिभगाणं सरीरा नाणावण्णा जावमक्खायं। एको चेव आलावगो ३ । [सू० १२]

व्याख्या—अथापरमन्यत् स्थानकं तीर्थकरैराख्यातं, तद्यथा—‘इह’ जगति एके जीवा उदकयोनिका नानायोनि-
(क)के (१) अवकपनकसेवालाः यावन्मृणालपुक्खलान्ता उत्पद्यन्ते, ते जीवा नानाविधयोनिकोदकस्नेहमाहारयन्ति इत्यादि-
पूर्ववत् । अस्यायमेक एव आलापको ज्ञेयः ।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता तेसिं चेव पुढवजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं
×तणेहिं, तणजोणिएहिं×मूलेहिं जावबीएहिं+ (रुक्खजोणिएहिं अज्झारुहेहिं, अज्झारुहेहिं

× एतच्चिन्धान्तर्वत्तिपाठस्थाने ‘रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं’ इत्येवविधः पाठोऽस्ति सबृत्तिकमुद्रितप्रतिषु ।

+ () नास्त्येवच्चिन्धान्तर्गतः पाठः पुण्यपत्तनीयदीपिकाप्रतिषु ।

*जात्र बीएहिं, पुढविजोणिएहिं तणेहिं *तणजोणिएहिं मूलेहिं जात्र बीएहिं, एवं [ओसहीहिं]
 सवथ वि तिन्नि आलावगा, एवं हरिएहिं) वि तिन्नि आलावगा, पुढविजोणिएहिं वि आएहिं काएहिं
 जात्र कुरूप[कूरे]हिं उदगजोणिएहिं रुखेहिं * रुखजोणिएहिं मूलेहिं जात्र बीएहिं, एवं
 अज्झारुहेहिं वि तिन्नि तणेहिं वि तिन्नि आलावगा, ओसहीहिं वि तिन्नि हरिएहिं वि तिन्नि उदग-
 जोणिएहिं उदगएहिं अत्रएहिं जात्र पुत्रखलच्छिभएहिं तसपाणत्ताए विउट्टंति ४ । ते जीवा
 तेसिं पुढविजोणियाणं उदगजोणियाणं रुखजोणियाणं अज्झारुहजोणियाणं तणजोणियाणं
 ओसहिजोणियाणं हरियजोणियाणं रुखाणं अज्झारुहाणं तणाणं ओसहीणं हरियाणं मूलाणं
 जात्र बीयाणं आयाणं कायाणं जात्र कुरवा[कूरा]णं उदगाणं अत्रगाणं जात्र पुत्रखलच्छिभगाणं
 सिणेहमाहारिंति । ते जीवा आहारिंति पुढविसरीं जात्र संतं, अत्रे वि य णं तेसिं रुखजोणियाणं
 अज्झारुहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहिजोणियाणं हरियजोणियाणं मूलजोणियाणं कंद-

* अतीतधिन्द्स्थानेषु " अज्झारुहेहिं अज्झारुहजोणिएहिं मूलेहिं " तथा " तणजोणिएहिं तणेहिं " तथा " रुखल
 जोणिएहिं रुखेहिं " इतिरूपेण पाठाधिक्यमस्ति सद्युत्तिकयुद्धितप्रतिषु ।

जोणियाणं जाव वीयजोणियाणं आयजोणियाणं कायजोणियाणं [जाव कूरजोणियाणं] उदग-
जोणियाणं अत्रगजोणियाणं जाव पुक्खलच्छिभगजोणियाणं तसपाणाणं सररीरा नाणावपणा
जावमक्खायं १ ॥ [सू० १३]

व्याख्या—ते वनस्पतावुत्पन्ना जीवाः पृथिवीयोनिकानां तथोदकानां वृक्षाध्यासहृणौषधिहरितयोनिकानां वृक्षाणां
यावत्स्नेहमाहारयन्तीत्येतदाख्यातमिति, तथा त्रसानां प्राणिनां शरीरमाहारयन्तीत्येतदवसाने द्रष्टव्यमिति । तदेवं वनस्पति-
कायिकानां सुप्रतिपाद्यैतन्त्यानां स्वरूपमभिहितं, शेषाः पृथिवीकायादयश्चत्वार एकेन्द्रिया उत्तरत्र प्रतिपादयिष्यन्ते, साम्प्रतं
त्रसकायिकस्यात्रमरः, स च नारकर्तिर्यद्भूमण्यदेवमेदभिन्नः, तत्र नारका अप्रत्यक्षत्वेनानुमानग्राह्याः, [तथाहि—] दुष्कृत-
कर्मफलभुजः केचन सन्तीत्येवं ते ग्राह्याः, तदाहारोऽप्येकान्तेनाशुमपुद्गलनिर्वर्तित ओजसा, न प्रक्षपेणेति, देवा अप्यशुना
वाहुल्येन अनुमानगम्या ए[व], तेषामप्याहारः शुभ एकान्तेनौजोनिर्वर्तितो, न प्रक्षेपकृत इति । स चाभोगनिवर्तितोऽना-
[भोगकृतश्च, तत्राना]भोगकृतः प्रतिसमयभावी आभोगकृतश्च जघन्येन चतुर्थमककृत उत्कृष्टतस्तु त्रयस्त्रिंशद्दर्शसहस्रनिष्पादित
इति, शेषास्तु तिर्यङ्मनुष्यास्तेषां च मध्ये मनुष्याणामभ्यर्हितत्वाचानेन प्राक् प्रदर्शयितुमाह—

अहावरं पुरक्खायं नाणाविहाणं मणुस्साणं, तं जहा—कम्मभूमिगाणं अकम्मभूमिगाणं अंतर-
दीवगाणं आरियाणं मिलक्खुगाणं, तेसिं चणं अहावीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्सय कम्म-

कडाए जोणिए, एत्थ णं सेहुणवत्तिए नामं संजोगे समुपज्जति, ते दुहओ वि सिणेहं संचिणंति ।

व्याख्या—अथानन्तरमेतत्पुरा' पूर्वमाख्यातं, तद्यथा-आर्याणामनार्याणां च कर्मभूमिजाकर्मभूमिजादीनां मनुष्याणां नानाविधयोनिकानां स्वरूपं वक्ष्यमाणनीत्या समाख्यातं, तेषां च स्त्रीपुंनपुंनरूपमेवदभिन्नानां 'यथाबीजेने'ति यद्यस्य बीजं, तत्र स्त्रियाः सवन्धि शोणितं पुरुषस्य शुक्रमेतद्भयमप्यविद्धस्तं, शुक्राधिकं सन्मनुष्यस्य शोणिताधिकं स्त्रियास्वत्समता नपुंसकस्य कारणतां प्रतिपद्यते, तथा ' यथावकाशेने'ति यो यस्यावकाशो मातुरुदरकुक्ष्यादिकः, तत्रापि किल वामा स्त्रियो दक्षिणा कुक्षिः पुरुषस्योभयाऽऽश्रितः पण्ड इति । तत्र चाविद्धस्ता योनिरविद्धस्तं+ बीजमिति चत्वारो भङ्गकाः, तत्राप्याद्य एव भङ्गक उत्पत्तेरवकाशो, न शेषेषु त्रिष्विति । अत्र च स्त्रीपुंसयोर्वेदोदये सति पूर्वकर्मनिवर्त्तितायां योनौ 'मैथुनप्रत्ययिको' रताभिलाषोदयजनितोऽग्निकारणयोररणिकाष्ठयोरिव संयोगः समुत्पद्यते, तत्संयोगे च तच्छुक्रशोणिते समुपादाय तत्रोत्पत्सवो जन्तवस्त्वैजमकर्मणाभ्यां शरीराभ्यां कर्मरञ्जुसन्दानितास्तत्रोत्पद्यन्ते । ते च प्रथममुभयोरपि स्नेहमाचिन्वन्त्यविद्धस्तायां योनौ सत्यामिति, विद्धस्यते तु योनिः " पञ्चपञ्चशिका नारी, सप्तसप्ततिकः पुमान्नि"ति, तथा द्वादश मुहूर्त्तानि यावच्छुक्रशोणिते अविद्धस्तयोनिके भवतस्तव ऊर्द्धं ध्वंसमुपगच्छत इति ।

तत्थ णं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए नपुंसगत्ताए विउट्ठंति ।

+ " बीजं १, अविध्वस्ता योनिर्विध्वस्तं बीजं २, विध्वस्ता योनिरविध्वस्तं बीजं ३, विध्वस्ता

व्याख्या—तत्र च जीवा उभयोरपि स्नेहमा[हार्य-आ]दाय स्वकर्मविपाकेन यथास्वं स्त्रीपुंनपुंसकभावेन 'विउद्वंति'नि विवर्चन्ते-मात्पद्यन्ते ।

ते जीवा माउए उयं पिउयं सुक्कं तं तदुभयसंसटुं कलुसं किविसं तप्पढमयाए आहारमाह-
रिति । ततो पच्छा जं से माता नाणाविहाओ रसवईओ आहारमाहरति ततो एगदेसेणं ओय-
माहारिति, आणुपुवेणं बुह्हा पलिवागमणुप्पवन्ना ततो कायातो अभिनिवट्टमाणा इत्थि वेगया
जणयंति पुरिसं वेगया जणयंति णपुंसगं वेगया जणयंति । ते जीवा डहरा समाणा माउए खीरं
सपि च आहारिति आणुपुवेणं बुह्हा ओयणं कुम्मासं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारिति पुढवि-
सरीरं जाव सारूविकडं संतं, अवरं वि य णं तेसिं णाणाविहाणं मणुस्साणं कम्मभूमिगाणं अकम्म-
भूमिगाणं अंतरदीवगाणं आरियाणं मिलक्खूणं सररीरा नाणावण्णा भवंतीति मक्खायं ॥ [सू०१४]

व्याख्या—तवस्ते जीवास्तत्रोत्पन्नाः सन्तो मातुराहारमोजसा मिश्रेण वा लोमभिर्वाऽऽपुष्यैणाहारयन्ति 'यथाक्रमं'
आनुषूष्येण इन्द्रिसुपगताः सन्तो ' गर्भपरिपाकं ' गर्भनिष्पत्तिमुत्पन्नास्ततो मातुः कायादभिनिवर्चमानाः—पृथग्भवन्तस्त-
द्योनेर्निर्गच्छन्ति, ते च तथाविधकर्मोद्भयादात्मनः स्त्रीभावमप्येकदा जनयन्ति अपरे केचन पुम्भावं नपुंसकभावं च, इदमुक्तं

मरति-स्त्रीपुंनपुंसकभावः प्राणिनां स्वकृतकर्मनिर्वर्त्तितो भवति, न पुनर्यो यादृगिहभवे सोऽगृष्मिन्नपि तादृगेवेति, ते च तद्वर्जतिवाल्मीकिः मन्तः पूर्वगवाभ्यासादाहाराभिलाषिणो मातुः स्वनस्वन्यमाहारयन्ति, [तद्] आहारेण च वृद्धिमुपगता-स्तद्वृत्तरकालं नवनीतद्व्योदनादिकं यावत्कुलमाषान् भुञ्जते, तथाऽऽहारत्वेनोपगतौल्लसौस्थात्रयैश्च प्राणिनस्ते जीवा आहार-यन्ति, तथा नानानिभ्रष्टथिवीशरीर लवणादिकं मचेतनमचेतनं वा आहारयन्ति, तच्चाऽहारितमात्ममात्कृतं सद् " रसा-सुन्दरमांसमेदोऽस्थिर्मज्जाशुक्राणि भातव " इति सप्तधा व्यवस्थापयन्ति, अपराण्यपि तेषां नानाविधमनुष्याणां [नाना-वर्णानि] शरीराण्याविर्भवन्ति, ते च तद्योनिकृत्वात्तदाधारभूतानि नानावर्णानि शरीराण्याहारयन्तीत्येवमाख्यातमिति । एवं प्रादुर्भव्युक्रान्तजमनुष्याः प्रतिपादितास्तदनन्तर सम्भूच्छनजानामवमरः, तौश्वोत्तरत्र प्रतिपादयिष्यामि । साम्प्रतं तिर्यग्यो-नेकास्तत्रापि जलचरानुद्दिश्याऽऽह—

अहावरं पुरस्त्रायं पाणाविहाणं जलचराणं पंचिदियतिरिक्खजोणियाणं, तं जहा-मच्छाणं वाव सुंसुमारानं तेसिं च णं अहावीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स च कम्मकडाए जोणीए तहेव, जाव ततो एगदेसेणं ओयमाहारिंति आणुपुव्वेणं बुद्धा पल्लिपागमणुप्पवन्ना ततो कायातो अणभिनिवहमाणा. अडं वेगया जणयंति पोयं ए[वि]गया जणयंति, से अडे उब्भि माणे इत्थि वेगया जणयंति पुरिसं वेगया जणयंति नपुंसगं वेगया जणयंति । ते जीवा डहरा समाणा

आउसिणेहमाहारिति आणुपुत्रेणं बुद्धा वणस्सइकायं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारैरिति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं नाणाविहाणं जलचरपंचिंदियतिरिखलजोणियाणं मच्छाणं सुंसुमाराणं सरिरा नाणावणणा जावमक्खायं ।

व्याख्या—अथाऽनन्तरमेतद्वक्ष्यमाणं पूर्णमाख्यातं, तद्यथा—नानाविधजलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्प्रयोनिकानां सम्बन्धिनः कौण्डिन्य इनामग्राहमाह—“ मच्छाणं जाच सुंसुमाराणं ” तेषां म[त्स्य]च्छकच्छपादीनां यस्य यथा यध्वीजं तेन तथा ‘ यथाऽऽकाशेन ’ यो यस्योदरादावक्काशस्तेन, स्त्रियाः पुरुषस्य च सः कर्मनिर्दितायां योनानुत्पद्यन्ते, ते च तत्राग्निव्यक्ता मातुराहारेण बुद्धिमगताः स्त्रीपुंनपुंसकानामन्यतमत्वेनोत्पद्यन्ते, ते च जीवा जलचरा गर्भाक्षुब्धुत्क्रान्ताः सन्तस्तदनन्तरं यावत् ‘ उत्तर ’ चि लघवस्तावदपौस्नेहपक्कायमेवाऽऽहारयन्ति, आनुपूर्व्येण च बुद्ध्याः सन्तो वनस्पतिकायं व्रसन् स्थान्वरौ-आहारयन्ति । तथा ते जीवाः पृथिवीशरीरं—कर्मसत्त्वं क्रमेण बुद्धिमगताः सन्त आहारयन्ति, तत्राहारितं सत्सगानरूपी-कृतमात्मसात्परिणागयन्ति, शेषं एगमं, यावत्कर्मोपगमा भवन्तीत्येवमाख्यातम् । साम्प्रतं स्थलचरानुद्दिश्याह—

अहावरं पुरक्खायं नाणाविहाणं चउप्पयथलचरपंचिंदियतिरिखल जोणियाणं [सं जहा—] एगखुराणं, दुखुराणं, गंडीपदाणं, सणप्फयाणं, तेसिं च णं अह्वानीएणं अहावणासेणं इत्थीए

भवति-स्त्रीपुंनपुंसकभावः प्राणिनां स्वकृतकर्मनिर्वर्त्तितो भवति, न पुनर्यो यादृगिहभवे सोऽगृष्मन्नपि तादृगेवेति, ते च तदवर्जितालहाः मन्तः पूर्वमवाभ्यासादाहाराभिलाषिणो मातुः स्तनस्तन्यमाहारयन्ति, [तद्] आहारेण च दृद्धिप्रपगता-स्तदुत्तरकालं नवनीतदध्योदनादिकं यावत्कूलमापान् भुञ्जते, तथाऽऽहारत्वेनोपगतौल्लासौस्थावशैश्च प्राणिनस्ते जीवा आहार-यन्ति, तथा नानाविधपृथिवीगरीर लवणादिकं मचेतनमचेतनं वा आहारयन्ति, तच्चाऽहारितात्प्रमात्कृतं सद् " रसा-सुंएमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि भातव " इति सप्तधा व्यञ्जस्थापयन्ति, अपराण्यपि तेषां नानाविधमनुष्याणां [नाना-वर्णानि] शरीराण्यानिर्व्वन्ति, ते च तद्योनिकत्वात्तदाधारभूतानि नानावर्णानि शरीराण्याहारयन्तीत्येवमाख्यातमिति । एवं तावद्गर्भव्युक्रान्तजमनुष्याः प्रतिपादितास्तदनन्तरं सम्मूर्च्छनजानामवमरः, तौधोत्तरत्र प्रतिपादयिष्यामि । साम्प्रतं तिर्यग्यो-निकास्तत्रापि जलचरानुद्दिश्याऽऽह—

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं जलचराणं पंचिदियतिरिक्खजोणियाणं, तं जहा-सच्छाणं जाव सुंसुमाराणं तेसिं च णं अहावीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडाए जोणीए तहेव, जाव ततो एगदेसेणं ओयमाहारिंति आणुपुवेणं बुद्धा पलिपागमणुप्पवन्ना ततो कायातो अभिनिवट्टमाणा. अंडं वेगया जणयंति पोथं ए[वि]गया जणयंति, से अंडे उब्भि माणे इत्थि वेगया जणयंति पुरिसं वेगया जणयंति नपुंसगं वेगया जणयंति । ते जीवा डहरा समा ।

आउसिणेहमाहारिति आणुपुवेणं बुद्धा वणस्सइकायं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारिति
 पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं नाणाविहाणं जलचरपंचिदियतिरिखलजोणियाणं
 मच्छाणं सुंसुमाराणं सरिरा नाणावणणा जावमक्खायं ।

न्याख्या—अथाऽनन्तरमेतद्वक्ष्यमाणं पूर्वमाख्यातं, तद्यथा-नानाविधजलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां सम्बन्धिनः
 कौशिव स्वनामग्राहमाह—“ मच्छाणं जाव सुंसुमाराणं ” तेषां म[त्स्य]च्छकच्छपादीनां यस्य यथा यद्द्वीजं तेन तथा
 ‘ यथाऽवकाशेन ’ यो यस्योदरादाववकाशस्तेन, स्त्रियाः पुरुषस्य च स्वकर्मनिर्वाचितायां योनावुत्पद्यन्ते, ते च तत्राभिव्यक्ता
 मातुराहारेण वृद्धिभुपगताः स्त्रीपुंनपुंसकानामन्यतमत्वेनोत्पद्यन्ते, ते च जीवा जलचरा गर्भाद्व्युत्क्रान्ताः सन्तस्तदनन्तरं
 यावद् ‘ डहर ’ इति लघनस्तावदपोस्नेहमक्रायमेवाऽहारायन्ति, आनुपूर्व्येण च बुद्ध्याः सन्तो वनस्पतिकायं व्रसान् स्थावरौ-
 प्राहारयन्ति । तथा ते जीवाः पृथिवीशरीरं—कईमस्वरूपं क्रमेण वृद्धिभुपगताः सन्त आहारयन्ति, तच्चाहारितं सत्समानरूपी-
 कृतमात्मसात्परिणामयन्ति, शेषं सुगमं, यावत्कर्मोपगमा भवन्तीत्येवमाख्यातम् । साम्प्रतं स्थलचरानुद्दिश्याह—

अहावरं पुरक्खायं नाणाविहाणं चउप्पयथलचरपंचिदियतिरिखल जोणियाणं[तं जहा-]
 एगखुराणं, दुखुराणं, गंडीपदाणं, सणफयाणं, तेसिं च णं अहावीएणं अहावगासेणं इत्थीए

पुरिसस्स य कम्म० जात्र मेहुणवत्तिष् नामं संजोगे समुप्पज्जति, ते दुहओ सिणेहं संचिणंति,
तत्थ णं जीवा इत्थित्ताए पुरिस[त्ताए]जाव विउद्धंति । ते जीवा माऊए उयं पिउसुक्कं, एवं जहा
मणुस्साणं जाव इत्थि वेगया जणयंति पुरिसंपि नपुंसगंपि, ते जीवा डहरा समाणा माउणो खीरं
सपि आहारिंति । आणुपुवेणं बुद्धा वणस्सतिकायं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारिंति पुढावि-
सरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं नाणाविहाणं चउप्पयथलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं
एगखुराणं जाव सणप्फयाणं सरीरा नाणावणणा जावमक्खायं ।

व्याख्या—अथापरमेतत्तीर्थकरैरारुपातं नानाविधानां चतुष्पदानां, तद्यथा—एकखुराणामश्वानां, द्विखुराणां गोम-
हिस्यादीनां, गण्डीपदानां इस्त्यादीनां, सनखपदानां सिंहव्याघ्रादीनां, तेषां यथावीजं यथाऽऽकाशं जीवानामुत्पत्तिस्ते
च इद्विषुपगताः मन्वोऽपरेषामपि शरीरमाहारयन्तीति, शेषं सुगमं, यावत्कर्मोपगमा भवन्तीति । साम्प्रतं उरः-
परिसर्पानुदिश्याह—

अहावरं पुरक्खायं नाणाविहाणं उरपरिसप्पाणं थलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, तं जहा-
अहीणं अजगराणं असालिआणं महोरगाणं, तेसिं च णं [अहाबीएणं] अहात्रगासेणं इत्थीए जाव

इत्थं मेहुणे, एथं तं चेत्, नाणत्तं—अंडं वेगया जणयंति पोयं वेगया जणयंति, से अंडे उब्भि-
ज्जमाणे इत्थि वेगया जणयंति पुरिसंपि नपुंसगंपि, ते जीवा उहारा समाणा वाउकाथमाहारैति,
आणुपुमेणं बुह्वा नणस्सतिकायं तसथाचरे पाणे, ते जीवा आहारिंति पुढविसरीरं जाव संतं, अचरे
नि य णं तेसिं नाणाविहाणं उरपरिसप्पथलचरपंचिदियतिरिक्खल० अहीणं जाव महोरगाणं सरीरा
नाणावपणा [नाणागंधा] जातभवत्तायं ।

X [व्याख्या—' नानाधियाणां ' बहुत्र क्षाराणां उरया ये प्रसर्पन्ति तेषां, तद्यथा—अहीनामजगराणागन्धालिकानां
महोरगाणां यथापीजेन यथाऽऽहासेन चोत्पत्त्याऽऽद्य [जलोत्पत्तयेन वा गर्भाभिर्गच्छन्ति, ते च निर्गता मातु-
रूत्तानां (नाशयानां) तानुं चाऽऽरयन्ति, तेषां च जातिप्रत्ययेन तेनैवाऽऽहारेण क्षीरादिनेन च द्विरुपजायते, शेषा] व्याख्या
तुमेव पूर्ववत् । साम्प्रतं भुजपरिगम्यानुदिस्याह—

अह्वारं पुरम्भ्यायं नाणाविहाणं भुयपरिसप्पाणं थलचरपंचिदियतिरिक्खलजोणियाणं, तं जहा—
गोहाणं नडलाणं सीद्धानं सरडाणं सल्लाणं रारवाणं खराणं परकोइलाणं विस्संभराणं भूसगाणं

X नाशयेतपिन्धान्यागतः पाठः प्रत्यन्तरेषु ।

मंगुसाणं पयलातियाणं विरालियाणं जोहाणं चउप्पाइयाणं, तेसिं च णं अहावीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य, जहा उरपरिसप्पाणं तहा भाणियधं, जाव साख्खिकड संतं, अवरं वि य णं तेसिं नाणाविहाणं भुयपरिसप्पपंचिदियथलचरतिरिक्खवाणं गोहाणं जावमक्खवायं ।

व्याख्या—X [नानाविधानां भुजाभ्यां ये प्र(परि)मर्षन्ति तेषां, तत्रथा-गोधानकुलादीनां स्वकम्मोपात्तेन यथाऽवकाशेन चोत्पत्तिर्मवति, ते चाण्डजत्वेन पीतजत्वेन शीतपत्रास्तदन्तरं तातुरुहस्यणां चायुना चाहारितेन दुद्विमृशयन्ति । शंभु] सुगुममेव पूर्ववत् । माम्प्रतं खेचराबुद्धियाह --

अहावरं पुरक्खायं नाणाविहाणं खहचरपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं, तं जहा-चम्मपक्खीणं लोमपक्खीणं समुगपक्खीणं विततपक्खीणं, तेसिं च णं अहावीएणं अहावगासेणं इत्थीए जाव जहा उरपरिसप्पाणं, नाणत्तं-ते जीवा डहरा समाणा माउए गायसिणेहं आहारिंति । आणुपुवेणं बुद्धा वणस्सइकायं, तस-थावरं य पाणे, ते जीवा आहारिंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरं वि य णं तेसिं नाणाविहाणं खहचरपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं० चम्मपक्खीणं जावमक्खवायं । [सू० १६]

व्याख्या—नानाविधानां क्षेत्राणां गुत्वचिरेणं द्रष्टव्या, त[द्य]था—चर्मपक्षिणां चर्मकीटगणुलीप्रभृतीनां, तथा लोम-
 पक्षिणां मारम-राजहंस-काक-चकादीनां, तथा समुद्रगपक्षि-विततपक्षिणां वहिर्द्वीपनिर्तिनां, एतेषां यथाबीजेन यथाऽनकाशेन
 चोत्पन्नानामाहारक्रिया एतदुपजायते, तद्यथा—सा पक्षिणी तदण्डकं स्वपक्षाभ्यामावृत्त्य तावत्तिष्ठति यावत्तदण्डकं तदू-
 ष्मणाऽऽहारितेन बुद्धिमुपगतं सत् कललानस्थां परित्यज्य चञ्चनादिकानवयनान् परिसमाप्य भेदमुपयाति, तदुत्तरकालमपि
 मानोपनीतेनाहारेण बुद्धिमुपयाति, शेषं प्रागत् । व्याख्याताः पञ्चेन्द्रिया मनुष्यास्तिर्यञ्चथ, तेषां चाहारो द्वेषा-आभोग-
 निर्धारितोऽनाभोगनिर्वाचितश्च, तनाऽनाभोगनिर्वाचितः प्रतिक्षणभाभी आभोगनिर्वाचितस्तु यथास्वं शुद्धेदनीयोदयभाभीति ।
 साम्प्रतं विकलेन्द्रियानुद्दिश्याह—

अह्वारं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता नाणाविहजोणिया नाणाविहसंभवा नाणाविहबुक्कमा
 तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मनिदाणेणं तत्थ बुक्कमा नाणाविहाणं तस-
 थावराणं पोगलाणं सररिसु वा सच्चित्तिसु वा अचित्तिसु वा अणुसूयत्ताए विउद्धंति । ते जीवा
 तेसिं नाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारिंति । ते जीवा आहारिंति पुढविसरीरं
 जाव संतं, अत्ररे वि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं अणुसूयगाणं सररीरा नाणावण्णा जाव-
 मक्खायं । एवं दुरुवसंभवत्ताए, एवं खुरदुगत्ताए । [सू० १७]

व्याख्या—अथानन्तरमेतदाख्यातं ' इह 'अस्मिन् संसारे ' एके 'केचन तथाविधकर्मोदयत्रयशक्तिनः ' सत्त्वाः ' प्राणिनो नानाविधयोक्तिकाः कर्मनिदानेन-सकृतकर्मणा तत्रोत्पत्तिस्थाने ' उपक्रम्य ' आगत्य नानाविधत्रसस्थावराणां शरीरेषु सचितेषु वाऽसचितेषु वा ' अणुसूयत्ताए 'ति अपरशरीराश्रिततया परनिश्रया ' विवर्त्तन्ते ' समुत्पद्यन्ते, यावत्ते च जीवा विकलेन्द्रियाः सचितेषु-मनुष्यादिशरीरेषु यू कालिश्वादिऋत्वेनोत्पद्यन्ते, तथा तत्परिशुद्धयमानेषु मञ्चकादिऋत्विचितेषु मन्वणत्वेनाविर्भवन्ति-उत्पद्यन्ते, तथऽचित्तीभूतेषु मनुष्यादिशरीरेषु विकलेन्द्रियशरीरेषु वा ते जीवा ' अनुभू [?स्यू] तत्वेन ' परनिश्रया कृम्यादित्येनोत्पद्यन्ते, परे तु सचिते तेजस्कायादौ सूयकादिऋत्वेनोत्पद्यन्ते, यत्र चाग्निस्तत्र वायुरित्यत-स्तदुद्भवा अपि द्रष्टव्याः, तथा पृथिवीमनुश्रित्य कुन्धुपिपीलिकादयो वर्षादावृष्मणा संस्वेदजा जायन्ते, तथोदके पूतरका डोछणकअमरिकाछेदनकादयः समुत्पद्यन्ते, तथा वनस्पतिकार्ये पनकअमरादयो जायन्ते । तदेवं ते जीवास्तानि स्वयोनि-शरीराण्याहारयन्ति इत्येवमाख्यातमिति । साम्प्रतं पञ्चेन्द्रियमूत्रपुरीषोद्भवान् प्राणिनः प्रतिपादयितुमाह ' एव ' मित्यादि, यथा सचित्ताचित्तिश्रया विकलेन्द्रियाः समुत्पद्यन्ते तथा तत्सम्भवेषु मूत्रपुरीषवान्तादिषु परे जन्तवो ' दुरूवत्ताए ' दुरूपास्त्वत्सम्भवत्वेन कृम्यादिमात्रत्वेनोत्पद्यन्ते । ते च तत्र विष्टादौ देहान्निर्गते अनिर्गते वा समुत्पद्यमाना उत्पन्नाश्च तदेव विष्टादिकं स्वयोनिभूत[माहार]माहारयन्ति, शेषं प्राग्वत् । साम्प्रतं सचित्शरीराऽऽश्रयाञ्जन्तून् प्रतिपादयितुमाह—' एवं सुरदुग्ताए ' एवमिति यथा मूत्रपुरीषादाबुत्पादस्तथा तिर्यक्शरीरेषु ' सुरदुग्ताए 'ति चर्मकीटतया समुत्पद्यन्ते, इदमुक्तं भवति-जीवतामेव गोमहिष्यादीनां चर्मणोऽन्तः प्राणिनः संसृच्छन्ते, ते च तन्मांसचर्मणी मक्षयन्ति, मक्षयन्त-

व्याख्या—अथानन्तरमेतद्वक्ष्यमाणं 'पुरा' पूर्वमाख्यातं, 'इह' अस्मिन्नुपगत्येके सत्त्वास्तथाविधकर्मोदया-
 नानाविधकर्मोदया—आनाविधयोनिष्ठाः मन्तो यावत्कर्मनिदानेन 'तत्र' वातयोनिष्ठाः ष्युत्कर्म्य—आगत्य नानाविधानां
 दूरप्रभृतीनां प्राणिनां 'स्थाराणां च' हरितलागादीनां मचित्ताचित्तभेदभिन्नेषु शरीरेषु तद्व्याप्यशरीरं वायुना निष्पादितं
 यातेनेन मग्गशुद्धीतमत्ररूपटलान्तनिर्वृत्तं वायुनैवान्योऽन्यानुगतं, तथोद्धृगतेषु वातेषुद्धमागी भवति, अक्कायो हि गगन-
 गताताशाद्दिनि मम्मूर्च्छते जलं, तथाऽधस्ताद्गतेषु तद्वशाद्भवत्यधोमागी अक्कायः, एवं तिर्यग्गतेषु वातेषु तिर्यग्मागी
 मात्यक्कायः, इदगुक्तं भवति—वातयोनिष्ठाः वायस्य यत्र यत्रासौ तथाविधपरिणागपरिणतो भवति तत्र तत्र तत्कार्यभूतं
 जलमपि मम्मूर्च्छते, तस्य चाभिधानपूर्वकं दर्शयितुमाह—'ओस'ति अश्यायः हिमं महिका करकाः 'हरतणू'त्ति
 वृणाग्रव्यरस्थिता जलविन्दनः, शुद्धोदकं प्रतीतमिति, इहोदकप्रस्तावे एके सत्त्वास्त्रोत्पद्यन्ते सत्कर्मवशात्तत्रोत्पन्नास्ते
 जीवास्तेषां नानाविधानां त्रयस्थायारणां सोत्पत्त्याधारभूतानां स्नेहमाहारयन्ति, ते जीवास्तच्छरीरमाहारयन्ति, अनाहारका
 न भवन्तीत्यर्थः, शेषं सुगमम् । तदेवं वातयोनिष्ठाः वायस्य मग्गशुद्धीतमत्ररूपटलान्तनिर्वृत्तं वायुनैवान्योऽन्यानुगतं
 अह्वारं पुरव्याप्यं इहेगतिया सत्त्वा उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मनिदानेणं तत्थ

बुक्कमा तसथावरजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउद्धंति, ते जीवा तेषिं तसथावरजोणियाणं
 उदगाणं सिणेहमाहरिंति, ते जीवा आहारिंति पुब्बिसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेषिं

तस्यथात्रजोणियाणं उदगाणं सरीरा नाणावपणा जावमवखायं ।

व्याख्या—अथापरमाख्यातं इह जगति उदकाधिकारे [त्रा] एके सत्त्वास्तथाविधकर्मोदयाद्वातवशोत्पन्नत्रमस्थावर-
शरीराधारप्रदकं योनि-रूपत्तिस्थानं येषां ते तथा, तथोदकममवा यावत्कर्मनिदानेन तत्रोत्पत्तवत्त्वसस्थावरयोनिर्के[षूदके]-
व्यपरोदरुवया ' चित्रचन्ते ' मम्रुत्पद्यन्ते, ते च उदकजीवास्तेषां त्रसस्थावरयोनिर्कानामुदकानां + नानाविधानि शरीराणि
चित्रचन्ते । एतदाख्यातं । तदेवं त्रसस्थावरशरीरसम्मवमुदकं योनित्वेन प्रदर्श्य अधुना निर्विशेषणमकायसम्मवमेवापकायं
दर्शयितुमाह—

अहात्रं पुरवखायं इहेगतिया सत्त्वा उदगजोणियाणं जाव कम्मनियाणेणं तत्थ बुक्कमा,
उदगजोणिएसु उदगेसु उदगत्ताए विउट्ठंति, ते जीवा तेषिं उदगजोणियाणं + जीवाणं उद-
गाणं सिणेहमाहारिंति, ते जीवा आहारिंति पुढविसरीरं जाव संतं, अत्रे चि य णं तेषिं उदग-

+ ' स्नेहनाहारयन्ति, अन्यान्यपि पृथिव्यादिशरीराण्याहारयन्ति, तच्च पृथिव्यादिशरीरमाहारितं सत्त्वारूप्यमानीयात्तमसा-
त्पहुंन्यपराण्यपि तत्र त्रमस्थावरशरीराणि चित्रचन्ते, तेषा चोदकयोनिर्कानामुदकानां ' इति वृत्तौ ।

+ नास्येतच्छब्दः ममृत्तिकमुद्रितप्रसिषु ।

जोणियाणं उद्गणं सररीरा नाणावपणा जात्रसत्रखायं ।

व्याख्या—अथाऽपरमेतदाख्यातं, इहेके मत्स्याः स्मरुतकर्मोदयाद्गुरुयोनि[केषूरेके]पुल्पयन्ते, ते च तेपापुद्कसम्भमाना-
मुद्गजीयानामात्माभारभूतानां शरीरमाहारयन्ति, शेयं सुगम, यात्रदाख्यातमिति । साम्प्रतमुद्गकृशारानपरापुतरकादिकां-
श्रमान् दर्शयितुमाह—

अहात्रं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उद्गजोणियाणं जात्र कम्मनिदाणेणं तत्थ बुक्कमा
उद्गजोणिएसु उद्गएसु तसपाणत्ताए विउट्ठति, ते जीवा तेसिं उद्गजोणियाणं उद्गणं सिणेह-
माहारिंति, ते जीवा आहारिंति पुढविसरीरं जात्र संतं, अत्रे वि य णं तेसिं उद्गजोणियाणं
तसथावराणं पाणाणं सररीरा नाणावपणा जात्रमक्खायं । [सू० १८]

व्याख्या—सुगमैवX । अथाऽग्निकायमधिकृत्याह—

अहात्रं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता नाणाविहजोणिया जात्र कम्मनियाणेणं तत्थ बुक्कमा

X“अथापरमेतदाख्यात, इहेके सत्ता उद्गकेषु उद्गकयोनिषु चोद्गकेषु त्रसप्राणितया पुतरकादित्वेन ‘विवर्त्तन्ते’ समुत्पद्यन्ते, ते
चोत्पद्यमानाः समुत्पन्नाश्च तेया-मुद्गकयोनि कानामुद्गकाना स्वेहमाहारयन्ति, शेयं सुगमं, यात्रदाख्यातमिति ” इति वृत्तौ ।

नाणात्रिहाणं तसथावराणं पणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अगणिकायत्ताए
 विउट्टंति, ते जीवा तेसिं नाणात्रिहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारिति, ते जीवा
 आहारिति पुढविसरीरं जात्र संतं, अवरं वि च णं तेसिं तसथावरजोणियाणं पुढवी(अगणी)णं
 सरीरा नाणावपणा जावमवखायं, सेसा तिन्नि आलावगा जहा उद्दगाणं ।

व्याख्या—अथैतदपरमाख्यातं, ' इह ' संसारे ' एके ' केवन ' सत्त्वाः ' प्राणिनस्तथाविधकर्मोदयवर्त्तिनो
 नानाविद्ययोनयः प्राक्कमन्तः—पूर्वजन्मनि तथाविधं कर्मोपादाय तत्कर्मनिदानेन नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणिनां
 गरीरेषु [मचित्तेषु] अचित्तेषु वाऽग्निन्त्वेन ' विवर्त्तन्ते ' प्रादुर्भवन्ति, तथाहि—पञ्चेन्द्रियतिरश्चां दन्तिमहिषादीनां परस्परं
 युद्रावमरे X विपाणसंहर्षे + सत्यग्निरुच्छिष्टे, एवमचित्तेष्वपि तदस्थिसंहर्षादग्नेरुत्थानं, तथा द्वीन्द्रियादिगरीरेष्वपि यथा-
 मभयमायोजनीयं, तथा स्थावरेष्वपि वनस्पत्युपलादिषु सचित्ताचित्तेष्वग्निजीवाः समुत्पद्यन्ते, ते चाग्निजीवास्तत्रोत्पन्ना-
 स्तेषा नानाविधानां त्रसस्थावराणां स्नेहमाहारयन्ति, शेषं सुगमं, यावद्भवन्तीत्येवभाख्यातम् । अपरे त्रयोऽध्यालापकाः

X दन्तशृङ्गयोः परिग्रहापेक्षया सचित्तांशयुक्त्वापेक्षया वा अचित्तभेदभिन्नता इति टिप्पणं सवृत्तिकमुद्रितप्रती ।
 + " स्पर्धायां तु समः परौ । हर्ष-घर्षौ च सङ्ग्राम-सङ्ग्रमौ दुर्गसञ्चरे ॥ ८७ ॥ " इति शब्दरत्नाकरः कां० ६ ।

सोमंशिए य नोषजो । चन्द्रप्पग-नेरुलिप, जलकते सूरकते थ ॥ ४ ॥ एथाओ गाहाओ एणसु
 भणियताओ, जान सूरंकतचाए विउद्धंति, ते जीवा तेसिं नाणाविहाणं तराथावरणं पाणाणं
 शिणेहमाहारिंति, ते जीवा आहारिंति पुळ्विसरीरं जाव संतं, अवरे वि थ णं तेसिं तसथावर-
 जोणियाणं पुद्दणीणं जान सूरंकताणं शरीरा नाणावण्णा जावगक्खायं, सेसा तिद्धि आलावगा
 जहा उद्दगाणं । [सू० २०]

व्याख्या— अथापरगेतत्पूर्वमाख्यातं, इहेके सरत्ताः पूर्वं नानानिधयोनिकाः स्वकृतकर्म्मवशात् नानानिधयसस्थानराणां
 वरीरेण मचित्तेण अनित्तेण वा पृथिवीत्येनोत्पद्यन्ते, तद्यथा-सर्पशिरसु गणयाः करिदन्तेषु गौक्तिकानि विकलेन्द्रियेभ्यश्चपि
 अज्यादिषु गौक्तिकानि, स्थावरेभ्यश्चपि वेणादिषु तान्द्येयेति, एवमनित्तेषुपरादिषु लक्षणभायेनोत्पद्यन्ते, एवं पृथिवीकायिका
 नानानिधासु पृथिवीषु शर्करा-वातका-उपल-शिला-लवणान्दिभायेन तथा भोगेदकादिस्त्रभायेन च बादरगणिविधानतथा
 सात्पद्यन्ते, शेषं सुगमं, शायन्त्वारीरूप्यालापका उदकगणेन नेतव्या इति । साम्प्रतं सर्वोपसंहासद्वारेण सर्वजीवान्
 गामान्यतो विगणियुरासह —

अहावरं पुरक्खायं राधे पाणा सधे भूया सधे जीवा सधे सत्ता नाणाविहजोणिया नाणाविह-

संभवा नाणाविहबुक्कमा, सरीरजोणिया सररिसंभवा सरीरबुक्कमा सरीराहारा कम्मोवगा कम्म-
निदाणा कम्मगईया कम्मट्टिइया कम्मणा चव विप्परियासमुव्वेति । से एवमाया ह, से एव-
मायाणित्ता आहारगुत्ते सहिए समिए सया जए त्तिवेमि । [सू० २१]

वीथसुयक्खंधस्स आहारपरिन्नानाम तईयमज्झयणं समत्तं ॥ ३ ॥

व्याख्या—अथापरमेतदाख्यातं—मर्षे प्राणाः सर्वे भूताः सर्वे सत्त्वाः सर्वे जीवाः X नानाविधयोनिका नारक-तिर्यङ्मरा-
मरादिगतिपूत्पद्यन्ते, यत्र यत्रोत्पद्यन्ते तत्र तत्र तच्छरीराहारिणो भवन्ति, तदाहारवन्तश्च तत्रागुप्तास्तद्द्वारायाततत्कर्म-
गणा नारकतिर्यङ्मरामरगतिषु जघन्यमध्यमोत्कृष्टस्थितयो भवन्ति, अनेनेदमुक्तं भवति—यो यादृगिह भवेत्—स तादृग
भूताऽपि भवतीत्येतन्निरस्तं भवति, अपि तु कर्मोपगाः कर्मनिदानाः कर्मायत्तगतयो भवन्ति, तथा तेनैव कर्मणा सुख-
लिप्सत्रोऽपि तद्विपर्यासं-दुःखमुपगच्छन्तीति । साम्प्रतमध्ययनार्थमुपसंजिहीर्षुराह—‘से एवमायाणहे’ त्यादि, यदेतन्म-
याऽऽदितः प्रभृत्युक्तं, तत्रथा—यो यत्रोत्पद्यते स तच्छरीराहारको भवति, आहारागुप्तश्च कर्मादत्ते, कर्मणा च नानाविधासु
योनिष्परघट्टघटीन्यायेन पौनःपुन्येन पर्यटतीत्येवं जानीत यूयं, एतद्विपर्यासं-दुःखमुपगच्छन्तीति । एतत्परिज्ञाय सदस-

X जीवसत्त्वयोर्न्यत्ययेन निर्देशोऽत्र ।

द्विवेकी आहारगुप्तः पञ्चभिः समितिभिः ममिउः सहितो ज्ञानादिभिः 'सदा' सर्वकालं-यात्रदुच्छ्वासं तावद्यतेत-संयमाबुष्टाने
प्रयत्नान् भवेदिति । इतिः परिममाप्त्यर्थे, त्रवीमीति पूर्ववत् ।

इति श्रीपरमसुविहितखतरगच्छविभूषणपाठकप्रवरश्रीमत्साधुरङ्गणिवरगुम्फितायां श्रीसूत्रकृताङ्ग-
दीपिकायां द्वितीये श्रुतस्कन्धे समाप्तमाहारपरिज्ञाख्यं तृतीयमध्ययनमिति ॥ ३ ॥

अथ प्रत्याख्यानक्रियाख्यं चतुर्थमध्ययनम् ।

अय तृतीयाध्ययनानन्तरं चतुर्थमारभ्यते, आहारपरिज्ञानन्तरं प्रत्याख्यानक्रियाध्यनमारभ्यते, तच्चेदम्—

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु पञ्चक्खाणकिरियानाम अउञ्जयणं, तस्स
णं अयमट्टे पन्नत्ते—

व्याख्या—श्रीजम्बूस्वामिनं प्रति श्रीसुधर्मस्वामी कथयति-श्रुतं मया [आयुष्मता] भगवतेदमाख्यातं-इह खलु
प्रत्याख्यानक्रियानामाध्ययनं, तस्यायमर्थो वक्ष्यमाणलक्षणस्तथाहि—

आया अपञ्चक्खाणी आवि भवति, आया अकिरियाकुसले आवि भवति, आया मिच्छासंठिष्

आवि भवति, आया एगंतदंडे आवि भवति, आया एगंतबाले आवि भवति, आया एगंतसुत्ते आवि भवति, आया अविचारमणवयणकायवक्के आवि भवति, आया अप्पडिहयप क्वायपाव म्मे आवि भवति, एस खलु भगवता अक्खाए असंजए अविरए अप्पडिहयप क्वायपाव म्मे सकिरिए असंबुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते से बाले अवियारमणवयण [यव सुविणमवि ण पस्सति, पावे य से कम्मे कज्जइ [सू० १] तत्थ चोयए प वगं एवं वदासि—

व्याख्या—अयमात्मा-जीवः अनादिमिथ्यात्वान्निरतिप्रमादकपाययोगानुगततया स्वभावत एवाग्रत्याख्यान्यपि भवति, [अपि शब्दात्] स एव कुतश्चिन्निमित्तात्प्रत्याख्यान्यपि भवति, तथा -अक्रियाकुशलोऽपि भवति, तथाऽऽत्मा मिथ्यात्वोदय-संस्थितोऽपि भवति, तथैकान्तेनापरान्प्राणिनो [दण्डयतीति] दण्डस्तदेवम्भूतो भवति, तथाऽऽत्मा एकान्तबालश्च भवति, तथाऽऽत्मा एकान्तसुप्तश्च भवति, यथा द्रव्यसुप्तः शब्दादीन् विषयान्न जानाति हिताहितप्राप्तिपरिहारविकलश्च भवति तथाऽऽत्माऽपि भावसुप्तो हिताहितं न वेत्ति, तथाऽऽत्माऽप्रत्याख्यानक्रियः सन् अविचारितमनोवाक्कायवाक्यश्चापि X भवति,

+ “सदनुष्ठानं क्रिया, तस्यां कुशलः क्रियाकुशलस्तत्प्रतिषेधात्” इति बृह० ।

X “वाग्महर्षेणैव वाक्यस्य गतार्थत्वात्पुनर्विक्रमहर्षणं वाग्व्यापारस्य प्राजुर्यज्ञापनार्थम् ।” इति हर्ष० ।

तथाऽप्रतिहताप्रत्याख्यातपापकर्म भवति, एवंविधो जीवो मग्नता असंयत अविरत अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्म मक्रिय असंयत एरान्तसुप्तश्च एरान्तसुप्तश्च कथितः, तदेवम्भूतश्च बालसुप्ततया 'अविचाराणि' अविचारितरमणीयानि परमार्थनिवारणया घृत्तया वा विघटमानानि मनोवाक्कायवाक्यानि यस्य स तथा, अविचारितमनोवाक्कायः निर्विवेकतया पदुविज्ञानरहितः स्वप्नमपि न पश्यति, तस्य चाव्यक्तविज्ञानस्य स्वप्नमप्यपश्यतः पापं कर्म बध्यते, एतावता यद्वस्तु ज्ञप्तेऽपि नायाति कदाचिदुष्टमपि न तस्यापि कर्मबन्धो लगति, अव्यक्तविज्ञानेनापि प्राणिना पापं कर्म क्रियत इति मातः । तत्र चैवं व्यनस्थिते परः प्रज्ञापकमेवमवादीत्—अत्र चाचार्याभिप्रायं परः प्रतिषेधयति—

असंतएणं मणेणं पात्रएणं असंतिआए वतीए पावियाए असंतएणं काएणं पावएणं अहणं-
तस्स अमण[क्ख]स्स अविचारमणवयणकायवक्कस्स सुमिणमवि अप्पस्सओ पावे कस्से नो
कज्जइ, कस्स णं तं हेउं ? चोयगे एवं बवीति—

व्याख्या—अविद्यमानेन असता तथा अप्रबुत्तेनाशोभनेन, तथा वाचा कायेन च पापेन असता, तथा सत्त्वान् अनिघ्नतः, तथाऽमनस्कस्याविचारमनोवाक्कायवाक्यस्य स्वप्नमप्यपश्यतः, एवमव्यक्तविज्ञानस्य पापं कर्म न बध्यते, एवम्भूतविज्ञानेन पापं कर्म न क्रियत इति, तर्हि कथयन्तु पूज्याः ? कथं पाप कर्म बध्यते ? केन हेतुना—केन कारणेन कर्मबन्धः स्यात् ? नात्र कश्चिदव्यक्तविज्ञानत्वात् पापकर्म हेतुरिति । अथ पर एव स्वाभिप्रायेण पापकर्मबन्धहेतुमाह—

अन्नयरेणं मणेणं पावएणं मणवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, अन्नयरीए वतीए पाविथाए वति-
 वत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, अन्नयरेणं काएणं पावएणं कायवत्तिए पावे कम्मे कज्जति, [हणंतस्स
 समणक्खस्स सवियारमणवयणकायवक्खस्स सुमिणमवि पासओ एवंगुणजातीयस् पावे क्कमे
 कज्जइ ।] पुणरवि चोयगे एवं वतीति-तत्थ णं जे ते एवमाहंसु-असंतएणं मणेणं पावए असंती-
 याए वतीए पाविथाए असंतएणं काएणं पावएणं अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियारमणवय -
 कायवक्खस्स सुविणमवि अपस्सओ पावे कम्मे कज्जति, [तत्थ णं] जे [ते] एवमाहंसु तं मिच्छा ।
 तत्थ पन्नवए चोयगं एवं वयासी- [तं सम्मं] जं मए पुवं बुत्तं असंतएणं णे पावए
 असंतियाए वईए पाविथाए असंतएणं काएणं पावएणं अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियारम

रूप्य मनोनाशव्यापारस्याभावात्, अथैतद्व्यापारमन्तरेणापि कर्मबन्ध इष्यते ? एवं च सति मुक्तानामपि कर्मबन्धः
 स्यात्, न धीनदिश्यते, तस्मान्नेवं बन्धः, तत्र यदेवम्भूतैरेव मनोवाक्कायव्यापारैः कर्मबन्धोऽभ्युपगम्यते । तदेवं व्यवस्थिते
 मति ये न एवमुक्तवन्तस्तत्रया—अविद्यमानैरेवाशुभैर्योगैः पापं कर्म क्रियते, मिथ्या ते एवमुक्तवन्त इति स्थितम् । तदेवं
 शिष्येणाचार्यपक्षं दूषयित्वा स्वपक्षे व्यवस्थापिते सत्याचार्ये आह—‘तं सम्म’मित्यादि, यदेतन्मयोक्तं प्राग् यथाऽस्पष्टा-
 व्यक्तयोगानामपि कर्म बध्यते तत् ‘सम्यक्’ शोभनं युक्तिसङ्गतं इति । एवमुक्ते पर आह—‘कस्य हेतोः ?’ केन कारणेन ?
 तत्सम्यगिति चेदाह—

तत्थ खलु भगवया छज्जीवनिकाया हेऊ पन्नत्ता, तं जहा—पुढविकाइया जाव तसकाइया,
 इच्चैतेहिं छहिं जीवनिकाएहिं आया अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे निच्चं पसढविउवातचित्तदंडे,
 तं जहा—पाणाइवाए जाव परिग्गहे कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले ।

व्याख्या—आचार्य आह—तत्र खलु भगवता षड्जीवनिकायाः कर्मबन्धहेतुत्वेनोपन्यस्तास्तद्यथा—पृथिवीकायिका
 यात्रमकायिका इति । कथमेते षट्कायाः कर्मबन्धस्य कारणमित्याह—‘इच्चैएहिं’ इत्यादि, इत्येतेषु पृथिव्यादिषु षड्-
 जीवनिकायेषु अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा य आत्मा जन्तुः ‘नित्यं’ सर्वकालं प्रकर्षेण शठः तथा ‘व्यतिपाते’ प्राणि-
 न्यपरोपणे चित्तं यस्य स व्यतिपातचित्तः, [स्वपरदण्डहेतुत्वाद्दण्डः] प्रशठश्चासौ व्यतिपातचित्तदण्डश्चेति आत्मा, तद्यथा—

प्राणातिपाते विधेये प्रशुठ] व्यतिपात]चित्तदण्डः, एवं मृपावादादत्तादानमैथुनपरिश्रहेष्वपि वाच्यं, यावन्मिथ्यादर्शुन-
शलयमिति । तेषामिहैकेन्द्रियविकलेन्द्रियादीनामनिवृत्तत्वान्मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकपाययोगानुगतता इति द्रष्टव्यं, तद्भावाच्च
ते ऋथं प्राणातिपातादि दोषवन्तो न भवन्ति ? एतावता एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाः प्राणातिपातादिदोषवत्तया अव्यक्तविज्ञाना
अपि मन्तोऽस्वप्नाद्यवस्थायामपि ते कर्मवन्धका एव, तदेवं व्यवस्थिते यत्प्रागुक्तं परेण, यथा-अव्यक्तविज्ञानानामनम्रतां
अमनस्कानां न कर्मवन्ध इत्येतन्मृषा । माम्प्रतमाचार्यः स्वपक्षसिद्धये दृष्टान्तमाह—

तत्थ खलु भगवता वहए दिट्टंते पन्नत्ते, से जहा नामए वहए सिया गाहावइस्स वा गाहावइ
पुत्तस्स वा रन्नो वा रायपुरिसस्स वा खणं निदाय पविसिस्सामि खणं लद्धुणं वहिस्सामि[त्ति]
पहारेमाणे से किं नु हु नाम से वहए तस्स गाहावइस्स वा [तस्स] गाहावइपुत्तस्स वा तस्स
वा रणो तस्स वा रायपुरिसस्स खणं निदाय पविसिस्सामि खणं लद्धुणं वहिस्सामि[त्ति] पहारेमाणे
दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते नि . पसढविउवायचित्त-
दंडे भवति ? एवं वियागरेमाणे समियाए वियागरे चोयए-हंता भवति ।

व्याख्या—तत्र खलु भगवता वधकदृष्टान्तः प्रज्ञप्तस्तद्यथा-वधकः कश्चित्स्वयादिति, कुतश्चिन्निमित्तात्कुपितः सन्

कस्यचिद्वन्नपरिणतः कश्चित्पुरुषो भवति, कीदृशो वधकः ? 'गाहावहसे'त्यादि, गृहपतिर्गृहपतिपुत्रो वा तस्योपरि
 कश्चिद्वन्नकः संवृत्तः, स च वधपरिणामपरिणतोऽपि कस्मिंश्चित्क्षणे पापकारिणमेतं घातयिष्यामीति । तथा राज्ञः राजपुरुषस्य
 नोपरि कुपित एतत्कुप्यादित्याह—'खणं निदाय' इत्यादि, क्षण-मन्नसरं 'निदाय'ति प्राप्य लब्ध्वा [वधयस्य] पुरे गृहे
 वा प्रवेक्ष्यामीति तदव्यवसायी भवति, तथा क्षणमन्नसरं छिद्रादिकं बध[वधय]स्य लब्ध्वा तं वध्यं हनिष्यामीत्येवं सम्प्र-
 धारयति, तथा गृहपते राज्ञो वा कश्चित्कारणकोपाद्वन्नपरिणतोऽप्यात्मनोऽवसरं लब्ध्वा हनिष्यामीत्यवसरं—छिद्रमपेक्ष
 माणस्तदन्नसरापेक्षी, कश्चित् कालमुदास्ते, स च तत्रौदासीन्यं कुर्वाणः अपरेण कार्यदिना व्यग्रचेतास्तस्मिन्नवसरे व[धं]ध्यं
 प्रत्यस्पष्टविज्ञानो भवति, स चैवम्भूतोऽपि यथा तं वध्यं प्रति नित्यमेव प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डो भवति, एवमविद्यमानैरपि
 प्रव्यक्तैरशुभैर्योगैरेकेन्द्रियविकलेन्द्रियादयोऽस्पष्टविज्ञाना अपि मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगानुगतत्वात्प्राणातिपातादि-
 दोषवन्तो भवन्तीति, न च तेऽवसरं अपेक्षमाणा उदासीना अपि अवैरिण इति, एवमस्पष्टविज्ञाना अपि वैरिणो भवन्तीति ।
 साम्प्रतमाचार्य एव स्वामिप्रेतमर्थं परप्रश्नपूर्वकमाविर्भावयन्नाह—'से किं नु हु' इत्यादि, आचार्यः स्वतो निर्णीतार्थोऽस्यया
 परं पृच्छति—किमसौ वधक पुरुषो[हनना]ऽवसरापेक्षी छिद्रं 'सम्प्रधारयन्' चिन्तयन् अहर्निशं सुप्तो जाग्रदवस्थो वा
 'तस्य' गृहपते राज्ञो वा वध्यस्याभिन्नभूतो वा मिथ्यासंस्थितो नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डो भवति ? आहोस्विन्नैत्येवं
 पृष्टः परः समतया माध्यस्थ्यमवलम्बमानो यथाऽवस्थितमेव व्यागृणीयात्, यथा-हन्त आचार्य ! भवत्यसावभिन्नभूत
 इत्यादि । तदेवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह—

आचार्य आह—जहा से वहए तस्स गाहावइस्स[वा]तस्स गाहावइपुत्तस्स[वा]तस्स
 वा रत्तो तस्स वा रायपुरिसस्स खणं निदाय पविसिस्सामि खणं लङ्घणं वहिस्सामिति पहारे-
 माणे दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिए निच्चं पसढविउवाय-
 चित्तदंडे [भवइ] एवामेव बाले वि सवेसिं पाणणं जाव सवेसिं सत्ताणं दिया वा राओ वा सुत्ते
 वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिए निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे [भवइ], तं जहा-
 पाणातिवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले, एवं खलु भगवता अक्खाए—असंजए अविणए अप्पाडिहय-
 पच्चक्खायपावकस्से सकिरिए असंबुडे एंगंतदंडे एंगंतबाले एंगंतसुत्ते आवि भवति, से वा
 अविचारमणवयणकायवक्के सुविणमवि ण पस्सति पावे य से कस्से कज्जति ।

व्याख्या—‘जहा से वहए’ इत्यादि, यथाऽसौ वधक इत्यादिना दृष्टान्तमनूद्य दार्ष्टान्तिकमर्थं दर्शयितुमाह-
 ‘एवामेवे’ इत्यादि, यथाऽसौ वधकोऽवसरापेक्षितया वध्यस्य व्यापत्तिमकुर्वणोऽप्यमित्तभूतो भवत्येवमसावपि बालोऽस्पष्ट-
 विज्ञानो निवृत्तेरमावात्सर्वेषां प्राणिनां व्यापादको भवति यावन्मिथ्यादर्शनशुल्योपेतो भवति, यद्यप्युत्थानादिकं विनयं
 कुतश्चिन्निमित्तादसौ विधत्ते तथाप्युदायिनृपमारकवदन्तर्दुष्ट एवेति नित्यं प्रकृत्यतिपातचिषदण्डश्च यथा परशुरामः

हृत्प्रीयं व्यापाद्यापि तद्दत्तरकालं मत्पवारान्निःक्षत्रां पृथिवीं चकार, एवमममममिन्नभूतो मिथ्याविनीतश्च भवति । ' एवं
 न्वन्तु भगवत्या' इत्यादि, यथाऽसौ वधकोऽवसरापेक्षी न तावद्घातयति [अथ च] अनिष्टुत्तवाद्दोषद्रुष्ट एव, एवमसा-
 त्त्येक्रेन्द्रियादिकोऽम्पष्टविन्नानोऽप्यविरतत्वात्तथाभूत एव-अविरताप्रतिहताप्रत्याख्याताऽसत्क्रियादिदोषद्रुष्ट एवेति, शेषं
 मुगमं, यावत्पापं कर्म क्रियत इति ।

जहा से वहए तस्स वा गाहावइस्स वा[जाव]तस्स वा रायपुरिस्स पत्तेयं[पत्तेयं]चित्त-
 समादाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिए[निच्चं]पसहविउ-
 वातचित्तदंडे भवति, एवामेव वाले सब्बेसिं पाणाणं जाव सब्बेसिं सत्ताणं पत्तेयं[पत्तेयं]चित्त-
 समादाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसहविउ-
 वातचित्तदंडे भवति ॥ [सू० २]

व्याख्या—यथाऽसौ वधको वध्यस्य विनाशं चिन्तयन् अनिमग्नपि अमिन्नभूतः कथ्यते, तदनु तस्य वधम-
 हुर्गतोऽपि पापकर्म जायते, एवं बाल एकेन्द्रियादिरपि सर्वेषां प्राणिनाममिन्नभूतः कथ्यते, अविरतत्वात्, एकेन्द्रिया-
 देरप्यर्हन्तोऽपि वन्थो भवति पापकर्मण इति । एवमाचार्येण प्रतिपादिते सति शिष्यः कथयति—

नो इणमट्टे समट्टे [चोदकः] । इह खलु बहवे पाणा० जे इमेणं सरीरसमुस्सएणं नो दिट्ठा वा सुया वा नाभिमतता वा, विन्नाया वा जेसिं णो पत्तेयं पत्तेयं चित्तसमायाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसढविउवातचित्तदंडे, तं जहा-
पाणाइवाए जाव सिच्छादंसणसहे ॥ [सू० ३]

व्याख्या—'नो इणमट्टे समट्टे' नायमर्थः 'नायमर्थः यदकुर्वतोऽन्नतः अमनस्कस्यापि पापकर्म लगति, नायमर्थः मयः—प्रतिपत्तु न योग्य इति । तत्र शिष्यः कारणमाह—'इह खलु' चतुर्दशज्जात्मके लोके 'बहवो'ऽनन्ताः प्राणिनः सन्ति देगकालनिप्ररूपास्तथाभूता बहवः सन्ति ये अनेन गरीरसमुच्छ्रयेण न कदाचिद्दृष्टाश्चक्षुषा न श्रुताः श्रवणाभ्यां शिरोगतो नाभिमतता—इष्टा, न च विज्ञाताः स्वयमेवेत्यतः कथं तद्विषयस्तस्यामित्रभावः स्यात् ? अतस्तेषां कदाचिदप्य-
निज्ञाताना कथं प्रत्येकं वधं प्रति चित्तममादानं भवति ? न चासौ तान् प्रति नित्यं प्रशुठव्यतिपातचित्तदण्डो भवतीति । एव च व्यवस्थिते न मर्नविषयं प्रत्याख्यानं युज्यते, इत्येवं प्रतिपादिते सति परेण आचार्य आह—

तत्थ खलु भगवथा दुवे दिट्ठता पन्नत्ता, तं जहा—सन्निदिट्ठते य असन्निदिट्ठते य, से किं तं सन्निदिट्ठते ?, २ जे इमे सन्निपंचिदिया पजत्तगा, एत्तेसिणं छजीवनिकाए पडुच्च, तं०—पुढविकायं

जाव तसकायं, से एगतिओ[पइन्नं कुजा]पुढविकाएणं किच्चं करेइ[वि] कारवेइ[वि], तस्स णं
 एवं भवइ-एवं खलु अहं पुढविकाएणं किच्चं करेमि वि कारवेमि वि, णो चेव णं से एवं भवइ-
 इमेण वा[इमेण वा], से य तेणं पुढविकाएणं किच्चं करोति वि कारवेति वि, से णं ताओ पुढ-
 विकायाओ अस्संजयाविरयअप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे यावि भवति, एवं जाव तसकाएत्ति
 भाणियवं । से एगतिओ छहिं जीवनिकाएहिं किच्चं करोति वि कारवेति वि, तस्स णं एवं भवति-
 एवं खलु अहं छजीवनिकाएहिं किच्चं करेमि वि कारवेमि वि, णो चेव णं से एवं भवति-इमेहिं
 वा[इमेहिं वा, से य तेहिं छहिं जीवनिकाएहिं जाव कारवेइ वि], से य तेहिं छहिं जीवनिकाएहिं
 असंजयअविरयअप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे, तं जहा-पाणातिवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले, एस
 खलु भगवता अक्खाए-असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सुविणमवि अपस्सतो
 पावे य से कम्मे कज्जति, से तं सन्निदिट्ठंते ।

व्याख्या—यद्यपि सर्वेषु जीवेषु देशकालस्वभावविप्रकृष्टेषु बधकचित्तं नोत्पद्यते तथाप्यसावविरतिप्रत्ययत्वात्तेष्वमुक्तवैर

एष कथ्यते, अस्य चार्थस्य सुखप्रतिपत्तये भगवता द्वौ दृष्टान्तौ प्रकृतौ, तद्यथा-संज्ञिदृष्टान्तोऽसंज्ञिदृष्टान्तश्च । अथ कोऽयं
 संज्ञिदृष्टान्तः ? ये केचन इमे संज्ञिनः पंचेन्द्रियाः पर्याप्तकाः, एषां च मध्ये कश्चिदेकः पद्भूजीवनिकायान् प्रतीत्यैवम्भूतां
 'प्रतितां' नियमं कुर्यात्, यथाऽहं पद्भूजीवनिकायमध्ये पृथिवीकायैर्नैवैकेन बालुकाशिलोपललवणादिस्वरूपेण 'कृत्यं'
 कार्यं कुर्या, मर्णा कृतप्रतिष्ठस्तेन तस्मिंस्तस्माच्च तं करोति कारयति च, शेषकायेभ्योऽहं विनिवृत्तः, तस्य च कृतनियमस्यै-
 तम्भूतो भाग्यध्यासायः-खलाहं पृथिवीकायेन कृत्यं करोमि कारयामि [च], तस्य च सामान्यकृतप्रतिष्ठस्य विशेषा-
 भिगन्धिनो भवति, यथाऽहं कृष्णेन वा श्वेतेन वा पृथिवीकायेन कार्यं करोमि [कारयामि च], सामान्येन वचसाऽहं
 पृथिवीकायारम्भं करिष्यामि एवं सर्वस्मात्पृथ्वीकायादनिवृत्तोऽप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा भवति, तत्र सर्वत्र पृथिवीकाये
 ताननभ्याननिर्णीदनतरगूर्त्तनोच्चारप्रथनादि[करण] क्रियासद्भावात्सर्वस्मात्पृथ्वीकायादनिवृत्तत्वात्, एवमसेजोवायुवन-
 स्पन्दिष्यपि नाच्यं, तथाऽकायेन स्नानपानावगाहनभाण्डोपकरणधावनादिषूपयोगः, तेजस्कायेनापि [पचनपाचनवितापन-
 पकागनादिषु, वायुनाऽपि] व्यजनतालवृन्तोत्पादितव्यापारादिषु प्रयोजनं, वनस्पतिनाऽपि-कन्दमूलफलपत्रत्वक्शाखाद्युप-
 योग, एवं निकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियेष्वप्यायोज्यम् । तैरुः कश्चित् पदस्वपि जीवनिर्कायेऽविरतोऽसंयतत्वाच्च तैरसौ 'कार्यं'
 मात्मानुष्ठानं साय करोति कारयति च परैस्तस्य च क्वचिदपि निवृत्तेरभावादेवम्भूतोऽध्ववसायो भवति, तद्यथा-एवं खल्वहं
 पद्भूरपि जीवनिर्कायः मामान्येन कृत्यं करोमि, न पुनस्तद्विशेष प्रतिज्ञेति, स च तेषु पदस्वपि जीवनिर्कायेऽसंयतोऽप्रति-
 हतप्रत्याऽख्यानपापकर्मा भवति । एवमष्टादशपापस्थानकेष्वप्यायोज्यम् । तदेवमसौ हिंसादीन्यकुर्वन्नपि अविरतत्वात्त-

जूरणयाए त्तिप्पणयाए पिट्ठणयाए ते दुक्खण-सोयण जाव परितप्पणवहंबंधण-परिकिलेसाओ अप्पडिविरता भवंति ।

व्याख्या—‘से हि तं असन्निदिद्धंते’ इत्यादि, ‘असंज्ञिनो’ मनोविकलाः सुप्तमत्तमूर्च्छितादिवत्, ये इमे असंज्ञिनः पृथिवीहायिणाः यावन्नस्पतिहायिणास्तथा पृष्ठा अध्येके त्रसाः प्राणिनो विकलेन्द्रियाः यावत्सम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियास्ते मांऽप्यसंज्ञिनो, येषां नो ‘तर्को’ विचारो मीमांसाविशिष्टमिश्रो विद्यते, यथा—कस्यचित्संज्ञिनो मन्दमन्दप्रकाशे स्थाणु-पुरुषोऽनिते देशे क्रियं ? स्थाणुरुत्त पुरुष इत्येवमात्मक ऊह-स्तरकः सम्भवति, नैवं तेपामसंज्ञिनां तर्कः सम्भवतीति । तथा ‘संज्ञा’ पूर्वोपलब्धेऽर्थे तदचरकालपर्यालोचन, सा संज्ञा येषां नास्ति, तथा ‘प्रज्ञा’ बुद्धिः-साऽपि नास्ति, तथा मनस्तथा यावत्तन्नं, माऽपि न विद्यते, तथा सार्यं करोमि अन्यैर्वा कारयामीत्येवम्भूतोऽव्यवसायो नास्ति, तेऽप्यसंज्ञिनो बालवद्बालादिरा रागौ [रा] सुप्ता जाग्रदवस्था वा सर्वजीवानामभिन्नभूता उच्यन्ते, विरतेरभावात् । एनमष्टादशपापस्थानकेष्वप्यागोज्यन्ते । असंज्ञिनो हि निरतेरभानादविरताः, अविरतत्याच्च कर्मणां बन्धना एवेति । यद्यप्यसंज्ञिनो [विशिष्ट] मनो-व्यापाररहितास्तथाऽपि सर्वप्राणिनां दुःखोत्पादनतया तथा शोचनतया-शोकोत्पादनतया तथा जूरणतया-वयोहा-निरूपया तथा ‘त्तिप्पणयाए’ त्रिस्यो मनोवाक्कायरूपेभ्यः पातनं त्रिपातनं, तद्भावस्तथा, यदि वा ‘त्तिप्पणयाए’त्ति-परितप्पणतया तथा ‘त्तिप्पणयाए’

परेऽप्यसंज्ञिनो ते नास्ति

यद्यपि देशकालसमाप्तप्रकृतानां, न सर्वेषां दुःखमुत्पादयन्ति तथापि विरतेरभावात्तत्प्रत्यधिकेन कर्मणा बध्यन्ते, तदेवं
 िप्रकृतविषयेऽपि चन्धकाः स्युरविरतत्वात् । अथोपसंज्ञिहीर्षुराह इति—

इति खलु ते असन्निधो वि सत्ता अहोनिंसं पाणातिवाए उवक्खाइज्जंति, जाव अहोनिंसं
 परिगहे उक्खाइज्जंति जाव मिच्छादंसणसल्ले उवक्खाइज्जंति ।

व्याख्या—' इति खलु ' इह खलु ये इमे पृथिवीकायादयोऽसंज्ञिनः प्राणिनस्तेषां न तर्को न संज्ञा न प्रज्ञा न मनो
 न वाक् [न] मयं कर्तुं नान्येन कारयितुं न कुर्वन्तमनुमन्तुं वा प्रवृत्तिरस्ति, ते चाहर्निशममित्रभूता मिथ्यासंस्थिता नित्यं
 प्रकृष्टव्यतिपातचित्तदण्डा दुःखोत्पादनं यावत् परितापनपरिक्लेशादप्रतिविरता, असंज्ञिनोऽपि सन्तोऽहर्निशं प्राणातिपाते
 रुरुच्ये तद्योग्यतया तद्मम्प्राप्तावपि ग्रामघातकवदुपाख्यायन्ते—क्रुध्यन्ते, यावन्मिथ्यादर्शनशल्ये उपाख्यायन्ते, एतावता
 असंज्ञिनामपि प्राणिनां किमप्यकुर्वतामपि अविरतत्वात्पापकर्मबन्धो जायत इति भावः । तदेवं दृष्टान्तद्वयं प्रदर्श्य तत्प्रति-
 बद्धमेवाऽर्थशेषं प्रनिपादयितुं शिष्यः प्रश्नं करोति—किमेते सत्त्वाः संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च भव्याभव्यत्ववन्नियतरूपा एवाहोस्वित्
 सन्निधो भूत्वा असंज्ञितं प्रतिपद्यन्ते असंज्ञिनोऽपि संज्ञित्वमित्येवं शिष्येण प्रतिपादिते सत्याहाचार्यः—

सव्वजोणिया वि खलु सत्ता सन्निधो हुच्चा असन्निधो हुच्चा असन्निधो हुच्चा
 हुंति । होच्चा सन्नी अदुवा असन्नी ।

व्याख्या—ये वेदान्तादिनो नादिनस्ते एां प्रतिपादयन्ति ' पुरुषः पुरुषात्तगेवाश्रुते पशुरपि पशुत्वमेवे'ति, तदत्रापि
 संज्ञिनः संज्ञिन एव भविष्यन्ति असंज्ञिनोऽपि असंज्ञिन इति, तन्मतव्यवच्छेदार्थमाह—' सब्वजोपिणया वी 'त्यादि, यदि
 ता किं सन्निवोऽसात्सिद्धमर्थं प्राक्तने कर्मणि सत्येव कुर्वन्ति ? किं वा नेत्येवमसंज्ञिनोऽपि संज्ञिकर्मबन्धनं प्राक्तने सत्येव
 पुन्त्याक्षेपितद्वयमाह—' सब्वजोपिणया वी 'त्यादि, सर्वा योनयो येषां ते सर्वयोनयः, संधुचविवृचोगय-शीतो-
 ध्योगय-गनितान्तो गयरूपयोनय इत्यर्थः । सर्वं योनयोऽपि सखु सराः पर्याप्तपेक्षया यावन्मनःपर्यासिर्न निष्पद्यते
 तावदसंज्ञिनः कर्णतः सन्तः पथात्संज्ञिनो गान्ति एकस्मिन्नेव जन्मनि, अन्यजन्मापेक्षया त्वेकेन्द्रियादयोपि सन्तः पथा-
 न्मनुष्यादयो गन्तीति, तथाभूतकर्मपरिणामात्, न पुनर्भव्याभव्यत्ववद्व्यवस्थानियमो, भव्यागव्यत्वे हि न कर्मा-
 यत्ते, अतो नानयोर्व्यभिचारः । ये पुनः कर्मगतगास्तो संज्ञिनो भूत्वाऽन्यत्रासंज्ञिनो भवन्ति, असंज्ञिनश्च भूत्वा संज्ञिन
 इति । वेदान्तादिमतस्य तु प्रत्यक्षेणैव व्यभिचारः समुपलभ्यते, तथाहि—संज्ञपि कश्चिन्मूर्च्छाद्यवस्थायामसंज्ञित्वं प्रतिपद्यते
 मूर्च्छापगमे पुनः संज्ञित्वमिति, जन्मान्तरे तु सुतरां व्यभिचारः, तथा प्रबुद्धो निद्रोदयात्सपि सुप्तश्च प्रतिबुध्यते, एवं
 सापप्रवोधानस्था एकस्मिन्नेव भवे जीवस्य जायते, एवं संज्ञित्वमसंज्ञित्वमप्येकस्मिन्नेव भवे जन्तोरेविरुद्धमिति । एवं
 परमभेदपि सत्यतस्ती स्यादसंज्ञी च संज्ञी स्यात् । तथा पुरुषो देवत्वं देवश्च पुरुषत्वमित्येवं सर्वत्र योज्यम् ।

तत्थ से अविधि[चि]त्ता अविधूणिता असंमुच्छिता अणुताविता असन्निकायाओ [वा]

(संश्लिष्टायां) सञ्चिकायं संकर्मिति (संक्रामन्ति) १, सञ्चिकायाओ [वा] असञ्चिकायं संकर्मिति ३,
सञ्चिकायाओ | वा | सञ्चिकायं संकर्मिति ३, असञ्चिकायाओ [वा] असञ्चिकायं संकर्मिति ४ ।

श्या'या—तय प्राक्तनं कर्म यद्दृशीं यत्त पद्मभास्ते, तस्मिन् सत्येव तत्कर्म 'अविचित्र्य' अपृथक्कृत्य तथाऽविधूया-
ऽसञ्चिकाननुताप्य तदापपरित्यक्तकर्मणोऽसञ्चिकायात्सञ्चिकायं सञ्चामन्ति तथा संश्लिष्टायादसञ्चिकायमिति [संश्लिष्टाया-
सञ्चिकायं असञ्चिकायादसञ्चिकाय] । त[य]था नारकाः—सानशेषकर्मण एव नरकादृष्टृत्य प्रतबुधेदनेषु तिर्यक्षूत्पद्यन्ते, एवं
देवा अपि प्रायस्तान्कर्मशेषतया शुभस्थानेषूपद्यन्ते इत्यनगन्तव्यम् । अत्र चतुर्भङ्गिका क्षेत्रेणैव दर्शिता ।

जे एण सञ्ची वा असञ्ची वा सधे ते मिच्छायारा[निच्चं]पसहविउवातचित्तदंडा, तं जहा-
पाणातिवाते वा जाच मिच्छादंसणसहे ।

श्या'या—नर्गोऽज्येते संश्लिनोऽसञ्चिनो ना मिश्र्याचारा, अप्रत्याख्यानित्वादित्यभिप्रायः, सर्वजीवेष्वपि नित्यं प्रच्युत
अपतिपातनित्तरण्टा भवन्तीत्येवमभूताश्च प्राणातिपाताधिषु सर्वेष्वप्याथवाद्वारेषु वर्तन्ते इति । तदेवं व्यवस्थिते यदुक्तं परेण
तमथा—'इहाणिषमानाऽशुभयोगसम्भवे कथं पापकर्मं बध्यते ?' इत्येतच्चिरस्ते, चिरस्तेरभावात्कुर्वतामपि पापं
लग्नस्येवेति मानः ।

एवं खलु भगवया अथवाए-असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चवलायपावकम्मे सकिरिए असंतुडे एगंतदंडे एगंतवाले एगंतसुत्ते, से बाले अत्रियारमणवयणकायवक्के सुविणमवि ण पासइ पावे य से कम्मे कज्जति । [सू० ४]

व्याख्या—एां ' भगता ' तीर्थकृताऽऽख्यातमित्यादि यत्प्राक्प्रतिज्ञातं तदेवास्मिन् सूत्रालापके दर्शितं, व्याख्यानं पागत् संयमिति, पापं च कर्म लगत्येन । तदेवमप्रत्याख्यानिनः कर्ममम्भनात्तत्सम्भवे च नारकतिर्यङ्हनरामरगति-लक्षणं संसारमागम्य संजातैरग्यः शिष्यः आचार्यं प्रति प्रवणचेताः प्रश्रयितुमाह—

चोयगः—से किं कुर्वं किं कारणं कहं संजयविरयपडिहयपच्चवलायपावकम्मे भवति ? ।

व्याख्या—शिष्यः प्राह—भगवन् ! किमनुष्ठानं स्वतः कुर्वन् ? किं वा परं कारणन् ? केन प्रकारेण संयतविरतप्रति-हनप्रत्याख्यातपापकर्मा जन्तुर्भवति ? इत्येवं पृष्टे सत्याचार्य आह—

तत्थ खलु भगवया छज्जीवनिकाया हेऊ पन्नत्ता, [तं जहा—] पुढविकाइया जाव त-सकाइया, से जहा नामए समं अस्सातं दंडेण वा अट्टीण वा मुट्टीण वा लेल्लूएण वा कवाल्लेण वा आतालिज्जमाणस्स वा जाव उद्दविज्जमाणस्स वा लोसुक्खणमायमवि हिंसाकारं दुक्खं भयं

पडिसंवेदमि, इच्चेत्रं जाण सधे पाणा जाव सधे सत्ता दंडेण वा जाव कवालणे वा आताडिज्जमाणा वा उवहम्ममाणा वा तज्जिमाणा वा ताडिज्जमाणा जाव उवहविज्जमाणा वा जाव लोसुवखणणमायमवि हिसाकारकं दुक्खं भयं पडिसंवेदिति । एवं नच्चा सधे पाणा [जाव सधे सत्ता] न हंतवा जाव न उद्वेयवा, एस धम्ममे सुद्धे धुवे नितिए सासए समिच्च लोणं खेदन्नोहं पवेइए ।

व्याख्या—तत्र खलु भगवता पड्जीवनिक्कायाः संयमसद्भावे हेतुत्वेनोपन्यस्ताः, यथा प्रत्याख्यानरहितस्य षड्जीवनिक्कायाः संमारगतिनिवन्धनत्वेन कथिताः एवं त एव प्रत्याख्यानिनो मोक्षाय भवन्तीति, तथा चोक्तम्—“Xजे जत्तिया य हेऊ, भवस्स ते चेव तत्तिया मोक्खे । गणाणाईया लोणा, दोणहवि पुण्णा भवे तुल्ला ॥ १ ॥” इदमुक्तं भवति—यथाऽऽत्मनो दण्डाद्युपघाते दुःखमुत्पद्यते एवं सर्वेषामपि प्राणिनामित्यात्मोपमया तदुपघातान्निवर्तते, एष धर्मः सर्वापायत्राणलक्षणो ध्रुवो नित्यः शाश्वतः परैः क्वचिदप्यस्खलितो युक्तिसङ्गतत्वात् । अयं च धर्मः सम्यक्शुद्ध इत्यवम्य लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं खेदज्ञैः प्रवेदितः ।

एवं से भिक्खू विरते पाणाइवायाओ जाव मिच्छादंसणसह्हाओ, से भिक्खू णो दंतपक्खा-

X ये यावन्तश्च हेतवो भवस्य ते तावन्तश्चैव मोक्षस्य । गणनातिगा लोका द्वयोरपि पूर्णा भवेयुस्तुल्याः ॥ १ ॥

लणेणं दंते पम्बालेजा, नो अंजणं नो वमणं नो धू[वणित्तं] मणत्तं पि आ[इते]दत्ते, से भिवखू
 अकिरिए अलूसए अकोहे जाव अलोभे उवसंते परिनिब्बुडे, एस खलु भगवया अक्खाए संजय-
 त्तिरयपडिहयपच्चम्बायपावकम्मे, अकिरिए संबुडे एगंतपंडिए यावि भवति तिबेमि । [सू० ५] ।
 धीयसुयक्खंधस्त चउत्तथं पच्चक्खाणकिरियानाम अज्झयणं, समत्तं ।

व्याख्या—एां न मिशु-निवृत्तः सर्वाश्रनद्वारेभ्यो दन्तप्रक्षालनादिकाः क्रिया अकुर्वन् सावद्यक्रियाया अभावादक्रि-
 योऽक्रियराज प्राणिनामल्यमोऽव्यापादको यावदेकान्तेनैवासौ पण्डितो भवति । इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ।

इति श्रीपरमसुनिहितस्वतरगच्छनिभूपणपाठरुप्रवरश्रीमत्साधुरङ्गगणिवरगुम्फितायां श्रीसूत्रकृताङ्ग-
 दीपिकायां द्वितीयश्रुतरुन्धे समाप्तं प्रत्याख्यानक्रियारूपं चतुर्थमध्ययनमिति ॥ ४ ॥



अथ पञ्चममाचारश्रुताध्ययनम्



माप्रनं पञ्चममारभ्यते, तत्रेयमादिगाथा—

आदाय वंभचेरं च, आसुपन्ने इमं त्रयं । असिँ धम्मे अणायारं, नायरेज्ज कयाइ वि ॥ १ ॥

व्याख्या—‘आदाय’ गृहीत्वा, किं तद् ? ब्रह्मचर्यं—सत्य-भूतदया-तप-इन्द्रियनिरोधलक्षणं, एतन्मौनीन्द्रप्रवचने
त्रप्रचयेमित्युच्यते, तदादाय ‘आशुप्रज्ञः’ सदमद्विवेकज्ञः ‘इमां’ समस्ताध्ययनेनाभिधीयमानां वाचं [इदं जगत्]
शास्त्रनमेवाशास्त्रनमेव वा, इत्यादिकां कदाचिदपि ‘नाचरेत्’ न कथयेत्, तथाऽस्मिन्धर्मे सर्वज्ञप्रणीते व्यवस्थितः सन्
अनाचार-मात्रद्यानुष्ठानरूपं ‘न ममाचरेत्’ न विदध्यात्, यदि वा केवलिप्रणीते धर्मे व्यवस्थितः ‘इमां’ वक्ष्यमाणां
रात्रमनाचार च कदाचिदपि नाचरेदिति श्लोकार्थः ॥ १ ॥

अथाचार्योऽनाचार दर्शयितुं यथावस्थितलोकस्वरूपप्रकटनपूर्वकमाह—

अणादीयं परिन्नाय, अणवद्गोति वा पुणो । सासयमसासए वा, इति दिट्ठिं न धारए ॥ २ ॥

व्याख्या—चतुर्दशरज्ज्वाऽत्मकं लोकमनादिकमनवदर्शं—अनन्ते] च परिज्ञाय—अपर्यवसानं च ज्ञात्वा शाश्वतमशाश्वतं वा
दृश्ये कान्तेन न वदेत्, इत्येवम्भूतां दृष्टिं न धारयेत्, पण्डितस्त्वेकान्तेन शाश्वतमेवाशाश्वतमेव लोकं न वदेदिति गाथाऽर्थः ॥ ३ ॥

लणेणं दंते पक्खालेज्जा, नो अंजणं नो वमणं नो धू[वणित्तं]मणत्तं पि आ[इते]दत्ते, से भिवखू
 अकिरिए अत्तसए अकोहे जाव अलोभे उवसंते परिनिवुडे, एस लु भगवया अक्खाए संजय-
 विरयपडिहयपच्चयखायपावकम्मे, अकिरिए संवुडे एगंतपंडिए यावि भवति तिबेमि । [सू० ५] ।
 वीयसुयक्खंधस्स चउत्थं पच्चक्खाणकिरियानाम अञ्जयणं, समत्तं ।

व्याख्या—एवं म मिश्र-निष्ठतः सर्वाश्रवद्वारेभ्यो दन्तप्रक्षालनादिकाः क्रिया अकुर्वन् सावद्यक्रियाया अभावादक्रि-
 योऽहित्पत्ताच्च प्राणिनामल्यकोऽव्यापादको यावदेकान्तैर्नैवासौ पण्डितो भवति । इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ।

इति श्रीपरमसुनिहितस्वरगच्छविभूषणपाठप्रवरश्रीमत्साधुरङ्गगणित्तरगुम्फितायां श्रीसूत्रकृताङ्ग-
 दीपिकायां द्वितीयश्रुतस्कन्धे समाप्तं प्रत्याख्यानक्रियारूपं चतुर्थमध्ययनमिति ॥ ४ ॥



अथ पञ्चममाचारश्रुताध्ययनम्



माम्प्रतं पञ्चममारभ्यते, तत्रेयमादिगाथा—

आदाय वंभचेरं च, आसुपन्ने इमं वयं । असिँ धस्मे अणायारं, नायरेज्ज कयाइ वि ॥ १ ॥

व्याख्या—‘आदाय’ गृहीत्वा, किं तद् ? ब्रह्मचर्यं—सत्य-भूतदया-तप-इन्द्रियनिरोधलक्षणं, एतन्मौनीन्द्रप्रवचने ब्रह्मचर्यमिन्पुन्यते, तदादाय ‘आशुप्रन्नः’ सदमद्विवेकज्ञः ‘इमां’ समस्ताध्ययनेनाभिधीयमानां वाचं [इदं जगत्] ग्रास्यते यथाशास्त्रमेव वा, इत्यादिकां कदाचिदपि ‘नाचरेत्’ न कथयेत्, तथाऽस्मिन्धर्मं सर्वज्ञप्रणीते व्यवस्थितः सन् अनचार-मायद्यानुष्ठानरूपं ‘न ममाचरेत्’ न विदध्यात्, यदि वा केवलिप्रणीते धर्मं व्यवस्थितः ‘इमां’ वक्ष्यमाणान् अनपनाचार च रुदाचिदपि नाचरेदिति श्लोकार्थः ॥ १ ॥

अथाचार्योऽनाचारं दर्शयितुं यथावस्थितलोकस्वरूपप्रकटनपूर्वकमाह—

अणादीयं परिन्नाय, अणवद्गोति वा पुणो । सासयमसासए वा, इति दिट्ठिं न धारए ॥ २ ॥

व्याख्या—चतुर्दशस्वजाऽत्मकं लोकमनादिकमनवदग्रं [—अनन्तो] च परिन्नाय—अपर्यवसानं च ज्ञात्वा शाश्वतमशाश्वतं वा इत्येकान्तेन नयेत्, इत्येवम्भूतां दृष्टिं न धारयेत्, पण्डितस्त्वेकान्तेन शाश्वतमेवाशाश्वतमेव लोकं न वदेदिति गाथाऽर्थः ॥ ३ ॥

किमित्येकान्तेन न गदेदित्याह—

पणहं दोहिं ठाणेहिं, ववहरो ण विज्जई । एण्हिं दोहिं ठाणेहिं, अणाचारं तु जाणए ॥ ३ ॥

व्याख्या—अयं लोको नित्य एवानित्य एव वा, अथवा सर्वं वस्तु नित्यमेवानित्यमेव वा, एताभ्यां स्थानाभ्यामभ्यु-
पगम्यमानाभ्यां अनयोर्वा पक्षयोर्व्यपहारो लोकस्यैहिरामृषिकयोः कार्ययोः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो न विद्यते, एतावता
एकान्तपक्षे नाशयेत्, एकान्तपक्षाश्रयणं त्वनाचारः, स्याद्वादपक्षाश्रयणं त्वाचार इति । अत्र हेतुयुक्तयो बृहद्दीकातोऽव-
तेया, यत् तु संक्षेपेण सूत्रार्थस्यैव प्रकाशनमिति गाथार्थः ॥ ३ ॥

तथाऽन्यमप्यनाचार निषेद्धकाम आह—

समुच्छिंहिति सत्थारो, सव्वे पाणा अणेल्सि । गंठिगा वा भविस्संति, सासयंति व णो वए ॥ ४ ॥

व्याख्या—मम्यद्निरवशेषतया ' उच्छेदं यास्यन्ति ' उच्छेदं यास्यन्ति-क्षयं यास्यन्ति यद्वोच्छेत्स्यन्ति-सिद्धिं यास्यन्ति,
क्रेते? शास्त्र-स्तीर्थद्वारास्तच्छामनप्रतिपन्ना वा ' सर्वे ' निरवशेषाः सिद्धिगमनयोग्या भव्याः, ततश्चोत्सन्नमव्यं जगत्स्या-
दिति, अत्र गुरुकृतकभिमामप्रहृतीता युक्ति प्रकाशयन्ति-जीवसद्भावे सत्यस्य पूर्वोत्पादाभावात् अव्यस्य च सिद्धिगमना-
सम्भवात् कालस्य चानन्त्यात् निरन्तरं सिद्धिगमनसम्भवेन तद्व्ययोपपत्तेरपूर्वमव्यजीवोत्पत्तेरगात्राद्भवोच्छेद इत्येवं नो
पदेत्, तथा मेऽपि प्राणिनः ' अनीदृशाः ' न महशाकाराः सन्तीत्येवमपि नो वदेत् । तथा ग्रन्थिनाः सत्त्वाः-सर्वेऽपि

प्राणिनः कर्मप्रत्योपेना एव भविष्यन्तीत्येवमपि नो वदेत् । इदमुक्तं भवति-सर्वेऽपि प्राणिनः सेतस्यन्त्येव कर्मवृत्ता वा सर्वे भविष्यन्तीत्येवमपि पक्षमेकान्तिकं नो वदेत् । यदि वा 'ग्रन्थिका' इति ग्रन्थिभेदं कर्तुमसमर्था भविष्यन्तीत्येवं च नो वदेत्, तथा ग्रा[श्वताः]न्तारः सर्वकालस्थायिनस्तीर्थकरा भविष्यन्ति, नोच्छेदं यास्यन्ति इत्येवमपि नो वदेत् ॥ ४ ॥

तदं दर्शनाचारमादनिषेधं चाद्मात्रेण प्रदर्शयितुमाह—

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जती । एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायांरं तु जाणए ॥ ५ ॥

श्याख्या—सर्वं ज्ञानारः क्षयं यास्यन्ति ज्ञाश्वता वा भविष्यन्तीति, यदि वा सर्वे शास्तारस्तद्दर्शनप्रपन्ना[वा] से-
 न्यन्ति, ज्ञाश्वता वा भविष्यन्ति, यदि वा सर्वे प्राणिनो विसदृशाः सदृशा वा, तथा ग्रन्थिकसत्त्वास्तद्रहिता वा भविष्यन्ती-
 न्येवमनयोर्दोयोः स्थानयोर्व्यवहारो न विद्यते, तथाहि—'सर्वे शास्तारः क्षयं यास्यन्ती'त्येतदयुक्तं, क्षयनिबन्धनस्य कर्म-
 णोऽभावात् मिदानां शयाभानः, [अथ]भवस्यकेनल्यपेक्षया चेदभिधीयते तदप्ययुक्तं, यतोऽनाद्यनन्तानां केवलानां सद्भावात्,
 भानेषु केवलानां सिद्धे महाविदेहेषु सर्वदा केवलमद्भावः । तथा सर्वेऽपि भव्याः सेतस्यन्तीत्येतदपि न स्यात्, यतः श्रीभग-
 वतः ज्ञापनीप्रश्रित्तारे "सन्धे वि णं भंते ! भवसिद्धिया जीवा सिद्धिस्सन्ति ?" भगवानाह—“हंता जयन्ती !
 भवसिद्धिया जीवा सिद्धिस्सन्ति X X X भवसिद्धिघविरहिणो भविस्सह ? नो इणमहे समहे” इत्यादि-
 भावात्काननप्रामाण्याद्भव्यजीवविरहितं जगत् भविष्यति, युक्तिश्चात्र भगवतीवृत्तितोऽवसेया, तथा च "जहया होही

पुच्छा, जिणं प्रपासंमि उत्तर तडया । इक्कस्स निगोयस्स, अणंतभागो य सिद्धिगओ ॥ १ ॥ ” इति वचनात्
 पौंडपि न सेन्मयन्ति, न भव्यजीविरहितं जगद्धविष्यति । न सिद्धिक्षेत्रं पूर्णं भविष्यति । सिद्धिं च निरन्तरमेव प्रयास्यन्ति,
 यतो “ तमेव संगं नीसंरुं, जं जिणेहिं पवेहयं ” इति वचनादेकान्तपक्षं नाशयेत् । अथ शाश्वतत्वमपि शास्त्राणां न
 परुषयेत्, यन्मोषामपि सिद्धिगमनमद्भानादगाद्यतत्वमिति, अत एकान्तेनाशाश्वतत्वमपि न श्रयेत् । तथा सर्वेऽपि
 पाणिनः चिरकर्मपद्भानानागतिजरीराज्ञोपाद्भानादिभिर्भिन्नत्वात् विशदशास्तथोपयोगासङ्ख्येयप्रदेशत्वामूर्त्तत्वादिधर्मैः
 कथान् गच्छता इति । तयोच्छ्रमितमहीर्यतया केचिद्धिन्नग्रन्थयोऽपरे च तथाविषपरिणामावाद्ग्रन्थिकमत्त्वा एव भवन्तीत्येवं
 व्यास्थिते नैकान्तपक्षो भातीति निषिद्धः, तदेवमेतयोरेव द्वयोः स्थानयोरुक्तनीत्याऽनाचारं विजानीयादिति स्थितम् ।
 यपि चागमेऽनन्तानन्तासाप्युत्सर्पिष्यन्सर्पिणीषु भव्यानामनन्तभाग एव सिद्ध्यतीत्ययमर्थः प्रतिपाद्यते, यदा चैवम्भूतं
 तदानन्तं, तत्कथं तेषां धयः ? । युक्तिरप्यत्र—सम्बन्धिशब्दावेतौ, युक्तिः संसारं विना न भवति संसारोऽपि न युक्ति-
 मन्तरेण, ततश्च भव्योच्छेदे संसारस्याप्यभावः स्यादतोऽभिधीयते—नानयोर्व्यवहारो युज्यत इति ॥ ५ ॥

अयुना चारिवाचारमदीकृत्याह—

जे केइ खुडुगा पाणा, अटुवा संति महालया । सरिसं तेहिं वेरंति, असरिसंती य नो वदे ॥ ६ ॥

व्याख्या—ये केचन शुद्राः प्राणिनः एकेन्द्रियद्वीन्द्रियादयोऽल्पकाया वा पञ्चेन्द्रिया, अथवा ‘महालया’ महाकाया

इस्यशादयः अल्पकायाः-कृन्धरादयः, तेषां व्यापादने सदृशं (विमदृशं वा) वैरमिति एवं (एकांतेन) नो वदेत्, यतः
 बन्धोऽपि प्रत्यक्षमायत्रगान्ध्रवति, तीव्राध्यत्रमायिनोऽस्पकायमन्धव्यापादनेऽपि महान् बन्धः, अकामस्य अनाभोगादिना
 महाकायमन्धव्यापादनेऽपि स्वल्पमिति गार्थार्थः ॥ ६ ॥

एषहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो न विज्जई । एषहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ७ ॥

व्याख्या—आभ्यामेव स्थानाभ्यां अनयोर्त्रा स्थानयोर्महाकायाल्पकायव्यापादने कर्मबन्धः सदृशः असदृशो वा, एतयोः
 स्थानयोर्व्याहारो न विज्ञेते, निर्वृत्तिकृत्वान्न युज्यते । एतयोरेव स्थानयोः प्रवृत्तस्यानाचारं विजानीयात्, यतो-नहि जीव-
 व्यापन्या हिमोच्यते, जीवस्य शाश्वतत्वेन व्यापादयितुमशक्यत्वात्, अपि त्विन्द्रियादिव्यापन्या हिंसा स्यात्, तथा चोक्तं-
 " पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनिश्वासासमथान्धदायुः । प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ता-स्तेषां
 त्रियोजीरुग्णं तु हिंसा ॥ १ ॥ " अपि च हिंसा चतुर्धा, एका द्रव्यतोऽपि भात्रतोऽपि १, एका द्रव्यतो न भावतः २,
 एका भावतो हिंसा न द्रव्यतः ३, एका न द्रव्यतो न भावतः ४, अयमेको मङ्गः शुद्धः, अचन्द्रकत्वाद्, द्वितीयो मङ्गः
 नानेऽपि द्रव्यतः प्राणित्ये स्वल्पः कर्मबन्धः, भावतः परिणामस्य शुद्धत्वात् । भावप्रहितस्यैव कर्मबन्धोऽभिहितः, तथाहि-
 ' इभ्यागमानुमारेण मम्पकृक्रियां कुर्वतोऽपि यद्यातुरधिपत्तिर्भवति तथापि न वैरानुपङ्को भवेदोषामावात् । अपरस्य तु सर्पबुद्ध्या
 रज्जुमपि नतो भावदोषात् कर्मबन्धः, यतः- " उचालियंमि पाए, हरियासमियस्स संकमहाए । वावज्जेज्ज कुलिंगी,

अथ पृथगपि चारित्रमधिकृत्याहासमधिकृत्याचारानाचारौ प्रतिपादयितुकाम आह—

अहाकस्माणि भुंजंति, अन्नमन्ने सकस्मुणा । उवलित्तेति जाणिज्जा, अणुवलित्तेति वा पुणो ॥ ८ ॥

व्याख्या—सायुमाश्रित्य कस्माणि-आधाकस्माणि, तानि च वल्लभोजनवसत्यादीनि, एतान्याधाकस्माणि ये भुञ्जन्ते-एनेपयोगं ये कुंन्ति ' अन्योऽन्यं ' परस्पर तान्स्वकीयेन कस्मणोपलिप्तान् विजानीयादित्येवं नो वदेत्, [तथाऽनुपलिप्तानिति न नो वदेत्] । एतदुक्तं भवति-अधाकस्मांसपि श्रुतोपदेशेन शुद्धमिति कृत्वा भुञ्जानः कस्मणा नोपलिप्यते तथा श्रुतोपदेशमन्तरेणाऽऽहासगृह्या आधाकस्मं भुञ्जानस्य तन्निमित्तकस्मन्वन्धसद्भावाद्, अतोऽनुपलिप्तानपि नो वदेत्, यथाऽवस्थितमीनीन्द्रागपन्नस्य त्वेवं घृज्यते वक्तुं-आधाकस्मोपभोगेन स्यात्कस्मन्वन्धः स्यान्निति, उक्तं च-“ किञ्चिच्छुद्धं कल्प्य-म कल्प्यं वा स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम् । पिण्डः शय्या वस्त्रं, पात्रं वा भेषजाद्यं वा ॥ १ ॥ ” अतः आधाकस्मणोपलिप्तान् न अनुपलिप्तान् वा इत्येकान्तेन नो वदेत् ॥ ८ ॥ किमित्येवं स्याद्वादः प्रतिपाद्यते ? इत्याह—

एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो न विज्जई । एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ९ ॥

व्याख्या—आभ्यां स्थानाभ्यामनयोर्ना स्थानयोराधाकस्मोपभोगेन कस्मन्वन्ध[भावा]भावभूतयोर्व्यवहारो न विद्यते, तथाहि-श्रुते हि कदापि कस्यामप्यनस्थायामाधाकस्मग्रहणमप्यनुज्ञातमस्ति “ सन्वत्थ संजमं सं-जमाओ अप्पाणमेय रत्तिवज्जा । मुच्चइ अइत्थायाओ, पुणो वि सोही न(त)या (ः) चिरई ॥ १ ॥ ” तथा—“ संथरणंमि असुद्धं,

इति वि विपुलविशेषात्, आत्तरविद्धेयं, तं येन द्विं अयंवरणे ॥ २ ॥ " तथा च श्रीभगवत्पा-
 " न्नात्वं गते । रामं वा माहून् वा वादप्यपरादिज्ञेयं अयमपानात्वाद्दशरथज्ञेयं पञ्चिन्द्राभेयमपरा-
 दि कथ्ये ? गोपता । पुरासो निजरा कथति । तदास्यं रामं वा माहून् वा अकारणं अपेरादि-
 जेयं अयमपानात्वाद्दशरथज्ञेयं पञ्चिन्द्राभेयमपरा दि कथ्ये ? गोपता । अह्मरिया निजरा कथ्ये
 अपरादे पादे कथ्ये कथ्ये । " इत्यादिप्रकारेणानाह्मरियत्कृतमसिद्ध, अतः नानाकर्मोपयोगेन कथेता लिख्यते
 इत्येवमेव नो भवेत्, नास्ये तदुपयोगे कर्मण्यन्वयान इत्यपि भवेत्, यदा - नानाकर्मणि निष्पादमाने पञ्च दीवनिष्पा-
 दमन्तये च पत्नीना कर्मोन्वय इत्यन्तोऽप्येव स्थानयोरेकान्तेनाश्रीयमाणमोक्षोक्तवारी न भूयते, तथाऽऽस्वाभेन स्थानान्वा-
 माभिनान्तं स भिन्नाचारं विजानीयामि स्थितं ॥ ९ ॥ पुनरन्वया दर्शेयं प्रति नानानाचारं दर्शयित्वाह—

अगिदं ओसलमाहारं, कर्मणं च त[भेन तं] हेन अ । रामथ श्रीरियं अरिथ, नरिथ रामथ श्रीरियं ॥१०॥

व्याख्या—श्रीदारिकं अरीरं १, तथाऽन्वयकं २, वैकियं ३, कर्मणं ४, तेजसं ५, एवं पञ्च अरीराणि, तत्र कथियेन-
 नानाति-यदेवेदारिकं तदेव कर्मणं तेजसं च, यदेव तेजसं कर्मणं तदेवेदारिकं तदेवाहारकं तदेव वैकियं च, एवं-
 दिव्यं संत न पारयेत्, एतेन अरीराणां देकं न भणयेत्, तथा विद्याः पार्थक्यमपि न भणयेत्, कथञ्चिकेतोपलब्धोरभेदः
 कथञ्चिन्न संताभेतास्तेर प्रति स्थितं, तदेवगौवारिकादीना अरीराणां देवादेते भदन्तं यदीत्येव इत्यप्यस्य देवादेते भदन्तमित्-

हामः पूर्वापत्रं श्लोकरूपभादेन दर्शयितुमाह—‘सञ्चतथ वीरिय’मित्यादि, ‘सर्वद्रव्यवीर्यं सर्वद्रव्येषु विद्यते’ अयं शौल्याभिप्रायः, शौल्याना हि मन्त्ररजस्तमोरूपस्य प्रधानस्यैकत्वात्तस्य च सर्वस्यैव कारणत्वात्, अतः ‘सर्वं सर्वात्मक’-मिन्ध्येनं व्यवस्थिते मर्त्य वटपटादावपरस्य व्यक्तस्य [कार्यस्य] ‘वीर्यं’ शक्तिर्विद्यते, सर्वस्यैव हि व्यक्तस्य प्रधानकार्यत्वात्-त्वायं हागणयोर्ध्वरुत्वात्, अतः ‘सर्वं सर्वात्मक’मित्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्, तथा “सर्वे भावाः स्वभावेन, स्वस्वभावे व्यवस्थिताः”, अतः प्रतिनियतशक्तित्वान्न सर्वत्र सर्वस्य ‘वीर्यं’ शक्तिरित्येवमपि संज्ञां नो निवेशयेत्, अत्रैकान्तनिषेधेन व्याघ्रादभाषया वदेदिति गार्थार्थः ॥ १० ॥

एतेहि दोहिं ठाणेहिं, ववहारो न विज्जई । एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ११ ॥

सुगमाX, व्याख्या पूर्ववत् । तथा—

नत्थि लोए अलोए वा, नेवं सन्नं निवेसए । अत्थि लोए अलोए वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १२ ॥
 व्याख्या—पञ्चास्तिकायात्मरुश्चतुर्दशरज्ज्वात्मको वा लोको नास्ति, एवं संज्ञां नो निवेशयेत्-न धारयेत्, तथा केवला-
 हाग्रात्मकोऽलोऽपि नास्तीत्येवमपि संज्ञां न निवेशयेत्-न निवेदयेत्, किन्तु ‘अत्थि लोए’ इत्यादि, किन्तु अस्ति लोकः

X “शाभ्यामेवाभ्या शक्तिरस्ति नास्ति वेति, अथवा शरीराणा सर्वेषां भेदोऽभेदो वेति द्वाभ्यां स्थानाभ्यां व्यवहारो न विद्यते, युक्तयो न सद्गणन्ति इत्यर्थः । एतयोः स्थानयोः प्रवृत्तस्यानाचारं जानीयात्” इति हर्षकुलीयदीपिकायां ।

तयं प्रचयेत् ? ' अतिथ धर्मं 'त्यादि, अस्ति धर्मः-अधर्मोऽप्यस्ति, यतो धर्मोऽधर्ममन्तरेण संसारवैचित्र्यं न स्यात्, यतः- " प्रत्यक्ष एव चित्रेऽस्मिन्, प्रपञ्चः पुण्यपापयोः । द्विभिन्नं (हि) जगत्सर्वं, सुखदुःखव्यवस्थया ॥ १ ॥ एके दधति साम्राज्यं, परे दधति वासताम् । " इत्यादिवचनात्, अतो धर्मः सम्यग्दर्शनादिकोऽस्ति अधर्मोऽपि मिथ्यानादिकोऽस्ति इत्येवं संबन्धां निवेद्येदिति गार्थार्थः ॥ १४ ॥

नरिथ बंधे व सुक्खे वा, नेवं सन्नं निवेसए । अरिथ बंधे व सुक्खे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १५ ॥
 व्याख्या—बन्धः कर्मणां ' नास्ति ' न विद्यते, अमूर्त्त्वादात्मनो गगनस्येव न कर्मणां बन्धः, इत्येवं संबन्धां नो निवेश-
 येत्, तथा बन्धाभावाच्च मोक्षस्याप्यभावात् इत्येवमपि संबन्धां नो निवेशयेत्, किन्तु- ' अतिथ बंधे व सुक्खे वा ' अस्त्यात्मनो
 बन्धः कर्मणां, अमूर्त्त्स्याप्याऽत्मनो मूर्त्तैः कर्मपुद्गैः सह सम्बन्धो-बन्धः, स तु विद्यते एव, आत्मनः सक्रियत्वात्,
 सक्रियस्य स्यादेव बन्धः, यदा ह्यात्माऽक्रियस्तदा न कर्मबन्धः, बन्धाभावाच्च मोक्ष एव, अतो बन्धोऽप्यस्ति मोक्षोऽप्य-
 स्तीत्येवं संज्ञां निवेद्येदिति गार्थार्थः ॥ १५ ॥

अथ बन्धमद्भावे पुण्यपापयोरपि सद्भावः । तर्हि—

नरिथ पुन्ने व पात्रे वा, नेवं सन्नं निवेसए । अरिथ पुन्ने व पात्रे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १६ ॥
 व्याख्या— ' नास्ति ' न विद्यते ' पुण्यं ' शुभकर्मप्रकृतिलक्षणं तथा पाप-मशुभकर्मप्रकृतिलक्षणं ' नास्ति ' न विद्यते,

इन्नां नो संज्ञां निवेशयेत्, यतः—पुण्यपापयोर्निना जगद्वैचित्र्यं न स्यात् । केषांचिन्मते जगद्वैचित्र्यं नियतिकृतं, नियत्या जगद्वैचित्र्यं स्यात् तदप्ययुक्तम्, यदि नियत्या स्वभावेन वा जगद्वैचित्र्यं स्यात् तदा सकलक्रियावैयर्थ्यं स्यात् । सकल क्रियात एव मरुलकार्योत्पत्तिः । यतः—शुभक्रियातः पुण्यं पुण्याच्च सुखं अशुभक्रियातः पापं पापाच्च दुःखमित्यतः ' अत्थ पुनं च पापं चै 'त्यादि, अस्ति पुण्यं पापं चास्ति एतद्विधां संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ १६ ॥

नत्थ आसवे संवरे वा, नेवं सन्नं निवेसए । अत्थ आसवे संवरे वा, एवं स न्निवेसए ॥ १७ ॥

व्याख्या—आधाः प्राणातिपातादिरूपः कर्मोपादानकारणं, तन्निषेधः संवरः एतौ द्वावपि न स्तः, इत्येवं संज्ञां न निवेशयेत्, किन्त्रास्तथाश्रयः संवरश्च, इत्येवंविधां संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ १७ ॥

नत्थ वेयणा निज्जरा वा, नेवं सन्नं निवेसए । अत्थ वेयणा निज्जरा वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १८ ॥

व्याख्या—' वेदना ' कर्मानुभवलक्षणा तथा ' निर्जरा ' कर्मपुद्गलशाटनलक्षणा, एते द्वे अपि न विद्येते इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्, यतः—पत्योपममागरोपमशताऽनुभवनीयं कर्म अन्तर्मुहूर्त्तैव क्षयमुपयातीत्यभ्युपगमात्तदुक्तं—* " जं अन्नाणी कम्मं, खवेड वड्डयाहि वासकोडीहि । तं नाणी तिहि गुत्तो, खवेह ऊसासमित्तेणं ॥ १ ॥ " इत्यादि । अपकथ्रेण्यां तु झटित्थेव कर्मणो भस्मीकरणद्यथाक्रमवद्धस्य चानुभवनाभावेन वेदनाया अभावः, तद्भावान्निर्जराया अप्य

* यदज्ञानी कर्म शपयति बहुकाभिवर्षकोटीभिः । तज्ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तः क्षपयत्युच्छ्वासासमात्रेण ॥ १ ॥

भासः, इभ्यो मां नो निवेशयेत् । त्रिभिर्दि १ यतः—कस्यचिदेव कर्मण एवमनन्तरोक्तया नीत्या क्षणत्तपसा प्रदेशानु-
भवेन चापराध्य तदयोरीरणाभ्यामनुभानमित्येतोऽस्ति वेदना, आगमोऽप्येवम्भूत एव, तद्यथा—“ X पुञ्चि वुञ्चिजाणं-
पुञ्चिभंनणं वेदता मोत्तलो, नत्थि अवेइत्ता ” इत्यादि । वेदनासिद्धौ च निजंराऽपि सिद्धैवेत्येतोऽस्तिवेदना
निर्णयः । एता यतां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ १८ ॥

वेदना निजरा च क्रियाऽक्रियायत्ने, तत्तन्तद्गतं प्रतिषेधपूर्वकं दर्शयितुमाह—

नत्थि किरिया अकिरिया वा, नेवं सन्नं निवेसए । अत्थि किरिया अकिरिया वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १९ ॥
न्याय्या—' क्रिया ' परिस्पन्दलक्षणा तद्विपर्यस्ता राक्रिया, ते द्वे अपि न स्तो—न विद्येते, इत्येवंविधां संज्ञां नो निवेशयेत्,
यतः शरीराऽगमनोद्देशाद्देशान्तरात्प्रतिषेधिता परिस्पन्दत्वात्क्रिया क्रिया प्रत्यक्षेणोपलभ्यते, सर्वथा निष्क्रियत्वे चात्प्रनोऽ-
भ्यपगम्यमान भगनम्यो वन्ममोक्षाद्यभासः, स च दृष्टेष्टनाधितः, अपि चैकान्तेन क्रियाऽभावे संसारमोक्षाभावः स्या-
दित्येतोऽस्ति क्रिया तद्विपर्यभूता चाक्रियाऽप्यस्ति इत्येवंविधां संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ १९ ॥

यथ गच्छिये जात्पगि गति क्रोधादिसद्भाव इत्येतद्दर्शयितुमाह—

नत्थि कोहे व माणे वा, नेवं सन्नं निवेसए । अत्थि कोहे व माणे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २० ॥

X पूर्वं पुञ्जीर्णानां तुष्पतिक्कान्तानां (कर्मणां) वेदयित्वा मोक्षो, नास्त्यवेदयित्वा ।

व्याख्या—रापररात्मनोरप्रीतिलक्षणः क्रोधः, स चानन्तानुगन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानानरणसञ्जालनभेदेन चतु-
 र्नाऽऽप्ये पश्यते, तयताद्भेद एव 'मानो' गर्गः, तौ द्वानपि 'न स्तो' न विद्येते, इत्येन संज्ञां नो निवेशयेत्, यतः—
 कृत्वाय कृत्वायार्त्वी दृष्टीष्टः कृतस्वेदविन्दुममाकूलः क्रोधाध्मातः समुपलभ्यते, केषाञ्चिन्मतेन
 होषो मानांश एवेत्येतदप्ययुक्तं, धार कृषेण्यां तु भेदं न क्षपणात् क्रोभक्षये न मानस्य क्षयः, पृथक् पृथक् क्षयो द्वयोरपि,
 तदभगम्य च नरमिहा[द्व]न्मन्मत्तादिलानोऽसि क्रोधः, मानोऽप्यस्ति चेत्येनं संज्ञा निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ २० ॥

नत्थि माया व लोभे वा, नेवं सन्नं निवेसए । अत्थि माया व लोभे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २१ ॥

व्याख्या—अत्रापि प्रागन्गायालोभयोरभानवादिनं निराकृत्यास्तित्तं प्रतिपादनीयमिति ॥ २१ ॥
 माम्प्रतमेगामे क्रोधादीनां ममासेनास्तित्तं प्रतिपादयन्नाह—

नत्थि पेजे व दोसे वा, नेवं सन्नं निवेसए । अत्थि पेजे व दोसे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २२ ॥

व्याख्या—प्रीतिलक्षणं पेम, पुत्रकूलवधनषान्याद्यात्मीयेषु रागस्तद्विपरीतस्त्वात्मीयोपघातकारिणि द्वेषस्तावेतौ द्वावपि
 न विद्येते इत्येनं सज्ञां नो निवेशयेत् । प्रेमाप्यस्ति द्वेषोऽप्यस्ति, यतः—“को दुःखं पाविज्जा ?, कस्स व सुक्खे हि
 चिम्मह्ठां हुज्जा ? । को च न लल्लिज्ज ? सुक्खं, रागद्धोसा जह्म न हुज्जा ॥ १ ॥ तौ बहुगुणनासाणं, समत्त-
 चरित्तगुणधिणासाणं । न ह्यु वसमागंतव्वं, रागद्धोसाण पाचाणं ॥ २ ॥” इत्यादिवचनप्रामाण्यात् तदभावः,

अनः प्रमाथ्यन्ति देवोऽप्यस्ति इत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ २२ ॥*

नत्थि चाउरंते संसारे, नेवं सन्नं निवेशए । अत्थि चाउरंते संसारे, एवं सन्नं निवेशए ॥ २३ ॥

व्याख्या—चन्तारोऽन्ता गतिमेदा नारकतिर्यङ्मरामलथणा यम्य संसारम्यासौ चातुरन्तः, संसार एव कान्तारो भयैक-
देतुनान्म चतुर्विधो न विद्यते, अपि तु सर्वेषां संसृतिरूपत्वात् कर्मबन्धात्मकतया च दुःखैकहेतुत्वादेकविध एव, अथवा
नारकदेवयोरनुपलभ्यमानन्वात्तियङ्मनुष्ययोरेव सुखदुःखोत्कर्षतया तद्व्यवस्थानाद् द्विविधः संसारः, पर्यायनयाश्रयणान्त्वे-
रूपिणः, अतश्चातुर्विध्यं न कथञ्चिद्बृहत् इत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत्, अपि त्वस्ति चातुरन्तः संसार इत्येवं संज्ञां निवेशयेत् ।
यदृक्तमेकविधः संसारस्तत्र षट्ते, यतोऽष्टपक्षेण तिर्यङ्मनुष्ययोर्भेदः समुपलभ्यते, तथा [सम्भवानुमानेन] नारकदेवा-
नामप्यन्तिन्नाभ्युपगमात् [द्विविध्यमपि न विद्यते], एवं चातुर्गतिक एव संसार इत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ २३ ॥
नत्थि देवो व देवी वा, नेवं सन्नं निवेशए । अत्थि देवो व देवी वा, एवं सन्नं निवेशए ॥ २४ ॥

व्याख्या—भवत्पतिव्यन्तरज्योतिष्कत्रैमानिका देवा न सन्ति तथा देवामावाद्देव्योऽपि न सन्ति इत्येवं संज्ञां नो

५ इतोऽनन्तर निम्नोद्घृतः श्लोकः सद्यत्तिकः समुपलभ्यते हर्षकुलीयाया—“ नत्थि रागे व दोसे वा, नेवं सन्नं निवेशए ।
अन्यि रागे व दोसे वा, एवं सन्नं निवेशए ॥ २३ ॥ दी०-रागद्वेषो न स्तः इति न स्वीकार्यं, तौ विद्येते इति मतिः कार्यी,
युक्तिः पूर्वोक्ता । (पुनरुक्त एवायम्)

निर्गमोन्, किन्तु देवा देव्यथ मन्ति, अहंतां पञ्चसु कल्याणक्रेषु समागमनदर्शनात् “ जिणपंचसु कल्याणएसु चैव
 मारिस्मिन्नाणु भावाओ । जम्मतरनेहेण थ, आगच्छंती सुरा इहयं ॥ १ ॥ ” अन्यथा नायान्ति, (यतः—)
 “ चत्तारि पंच जोयण-सयाइं गंधो उ मणुयलोयस्स । उडुं वच्चइ जेणं, नहु देवातेण आविति ॥ १ ॥ ” तथा च
 प्रहृणीनारपदानादिना च तदस्तितामनुमानेन माध्यते, अतो देवा देव्यथ सन्तीत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ २४ ॥

नरिथ सिद्धी असिद्धी वा, नेवं सन्नं निवेशए । अरिथ सिद्धी असिद्धी वा, एवं सन्नं निवेशए ॥ २५ ॥
 व्याख्या—अशेषकर्मक्षयलक्षणा सिद्धिस्तद्विपर्ययभूता चासिद्धिर्नास्तीत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत्, अस्ति सिद्धिरित्येवं
 संज्ञां निवेशयेत् । मय्यगुजानदर्शनचारित्रात्मकस्य मोक्षमार्गस्य सद्भावात् कर्मक्षयस्य च पीडोपशमनादिना प्रत्यक्षेण-
 दर्शनात्, अतः कर्मवचिदात्यन्तिककर्महानिसिद्धेरस्ति सिद्धिरिति गाथार्थः ॥ २५ ॥

नरिथ सिद्धी नियं ठाणं, नेवं सन्नं निवेशए । अरिथ सिद्धी नियं ठाणं, एवं सन्नं निवेशए ॥ २६ ॥
 व्याख्या—सिद्धेशेषकर्मक्षयलक्षणाया निज स्थानमीपत्प्राग्भाराख्यं व्यवहारतो, निश्चयतस्तु तदुपरि योजन[चतुर्थ]-
 कोशप्रागः, तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावात्स नास्तीत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्, किन्तु सिद्धानामवस्थानस्थानं सिद्धाश्च
 मन्तीत्येवं संज्ञां निवेशयेत्, यतः—अयोगिचरममये त्रयोदश प्रकृतीः “ क्षयं नीत्वा स लोकान्तं, तत्रैव समये
 व्रजेत् । लब्धसिद्धत्वपर्यायः, परमेष्ठी सनातनः ॥ १ ॥ पूर्वप्रयोगतोऽसङ्ग-भावाद्बन्धधिमोक्षतः । स्वभाव-

पणिगामान् । सिद्धस्योद्धर्गगतिर्भवेत् ॥ २ ॥ कुलालचक्रदोलेषु, सुख्याणां हि यथा गतिः । पूर्वप्रयोगतः
 सिद्धा, सिद्धस्योद्धर्गगतिस्तथा ॥ ३ ॥ मूलेपसद्गनिर्मोक्षा-यथा दृष्टाऽऽश्वलाबुनः । पूर्वसद्गविनिर्मोक्षा-तथा
 सिद्धिगतिः स्मृता ॥ ४ ॥ परण्डफलवीजादे-र्बन्धच्छेदाद्यथा गतिः । कर्मबन्धनविच्छेदात्, सिद्धस्यापि
 तथा भवंत् ॥ ५ ॥ यथाऽधस्तिर्यगूर्द्धं च, लोष्टवाद्यवगिनीचयः । स्वभावतः प्रवर्तन्ते, तथोद्धर्गतिरात्मनः
 ॥ ६ ॥ न चागो गौग्वाभावा-न्न तिर्यक् प्रेरकं विना । न च धम्मस्तिक्वायस्या-भावालोकोपरि ब्रजेत्
 ॥ ७ ॥ मनोज्ञा सुरभिस्तन्वी, पुण्या परमभासुरा । प्राग्भारा नाम वसुधा, लोकमूर्धनि व्यवस्थिता ॥ ८ ॥
 नृत्योऽस्तुन्यविःकम्भा, सितच्छत्रनिभा शुभा । ऊर्द्धं तस्याः क्षितेः सिद्धा, लोकान्ते समवस्थिताः ॥ ९ ॥
 उमीपञ्चभाराण् । उर्वरिं त्वलुजोयणंमिजो कोसो । कोसस्स य छम्भाए, सिद्धाणोगाहणा भणिया ॥ १० ॥ ”
 इति सिद्धानां मथानम् । अथ सिद्धास्तु-” नो किण्हे नो नीले नो लोहिए नो हालिदे नो सुक्किहे नो सुरभिगंधे
 नो दुग्भिगंधे नो तिस्से नो कटुए नो कसाए नो अंबिले नो महुर (नो लवणे) नो वट्टे नो तंसे नो चउरंसे
 नो परिमंडले नो दीहे नो हस्से नो गुरुए नो लहुए नो सीए नो उण्हे नो कक्खले नो मउए नो इत्थी नो
 पुरिसे नो अन्नहा ” एवं सिद्धाः लोकाग्रपदसंस्थिताः मदाऽव्ययाः अनन्ता अजरामराः सदाऽऽनन्दमया अवतिष्ठन्ते ।
 एवं सिद्धान्मया सिद्धानां च मथान विद्यते, एवं संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ २६ ॥

नत्थि साहू असाहू वा, त्वं सन्नं निवेसए । अत्थि साहू असाहू वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २७ ॥

व्याख्या—‘ नास्ति ’ न त्रिद्यते यथोक्तगुणोपेतः माधुस्त्वद्मात्राच्च तत्प्रतिपक्षभूतस्यामाधोरप्यभावः, यतः “ केवल-
 मणोन्नित्युदम-दमनवपुष्वीहि संपयं रहिए । सुद्धमसुद्धं चरणं, को जाणइ ? कज्जभावं च ॥ १ ॥ ”
 इत्येवमभूता गतां नो निवेशयेत् “ कालाहदोसवसओ, कहवि दीसंति तारिसा न जह । सव्वत्थ तहवि नत्थित्ति,
 नेत्र कुत्ता अणामासं ॥ १ ॥ कालोच्चियजयणाए, मच्छररहियाण उज्जमंताणं । जणजत्तारहियाणं, होइ जइत्तं
 जइण मया ॥ २ ॥ अन्नाणनिरंतरत्तिमिर-पूरपूरियंमि भवभवणे । को पयडइ ? पयत्थे, जइ गुरुदीवा न
 दिप्पंति ॥ ३ ॥ पलए महागुणाणं, हवति सेवारिहा लहुगुणा वि । अत्थमिए दिणनाहे, अहिलसइ जणो
 पइयं पि ॥ ४ ॥ अट्ट गुणाणं मज्जे, इक्केण गुणेण संघपच्चक्खं । तित्थुन्नयं गंतो, जुगपवरो सो इहं नेओ
 ॥ ५ ॥ दुप्पसहत्तं चरणं, ज भणियं भगवया इह ग्वित्ते । आणाजुत्ताणं पुण, न होइ अहुणत्ति वामोहो
 ॥ ६ ॥ ” श्रीभगवत्यां—“ केवइयं कालं तु देवाणुत्पियाणं तित्थे अणुसज्जिस्सइ ?, गोयमा ! इक्कवीसवास-
 सहस्साइं ममं तित्थे अणुसज्जिस्सइ, तित्थं पुण चाउवणो समणसंघो-समणा समणीओ सावया
 साचियाओ ” इत्यादिभगवद्वचनप्रामाण्यात्तीर्थं यावत् साधवः सन्ति तद्विपरीताश्चासाधवोऽपि सन्तीत्येवं संज्ञां
 निवेशयेदिति गार्थार्थः ॥ २७ ॥

तत्थि कल्लण पावे वा, नेवं सन्नं निवेसए । अत्थि कल्लण पावे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २८ ॥

व्याख्या—यद्येष्टार्थफलमप्राप्तिः कल्याणं तन्न विद्यते× तथा पापं पापवान्ना न कश्चिद्विद्यते, तदेवमुभयोरप्यभावः, इत्येव रूपां संज्ञां नो निवेद्ययेत्, यतः—कल्याणपापयोर्निना सुखी दुःखी सरोगी निरोगी सुरूपः कुरूपो दुर्मगः सुमगो धनी इतिदो मूचः पण्डितो वेत्यादिको जगद्वैचित्र्यभानोऽप्यक्षसिद्धोऽपि न स्यात्तस्मादस्ति कल्याणं पापं चेत्येवं संज्ञां निवेशये-
दिति गाथायः ॥ २८ ॥

न नीकान्तेन [कल्याणं] कल्याणमेव, यतः—केवलानां प्रक्षीणघनघातिकर्मचतुष्टयानां सातासातोदयसद्भावात्तथा नाराणामपि पञ्चेन्द्रियत्वविशिष्टज्ञानादिमनुभागलैकान्तेन ते पापन्त इति, तस्मात्कथञ्चित्कल्याणं कथञ्चित्पापमिति स्थितम् । तदेव कल्याणपापयोरेकान्तरूपत्वं पमाद्य एकान्तं दूषयितुकाम आह—

कल्याणे पात्रे वा वि, वचहारो न विज्झई । जं बैरं तं न जाणंति, समणा बालपंडिया ॥ २९ ॥

व्याख्या—मर्वथा कल्याणवानेवायं तथा पापवानेवाथभित्थेवम्भूतो व्यचहारो न विद्यते, एकान्तस्यार्थस्याभावात्, एते कान्तवाद्मैवाश्रयणात्सर्ववस्तुनामनेकान्ताश्रयणेन [पाह] पसाधितत्वात्, एकान्तिको व्यचहारो न विद्यते कुत्रापि वस्तु-
पापे गले पात्रः । यः पुरुष एकान्तेन पुण्यवान् इत्यते सोऽप्यन्यावस्थायो परिणामपरावर्तदुर्गतौ प्रयाति यः पापी
पापे गत्यामत्रशात्सुगतिगामी स्यात्, अत एकान्तवचनं न ब्रूयात् । तथा बैरं कर्मनिरोधो वा बैरं, तद्येन च परोप-
पापे । अन्वे कल्याणवांश्च न कश्चिद्विद्यते इति ब्रह्मवृत्तिः ।

ध्यायन्ति एतान्प्रथममभयणेन वा गति, तत्रे ' श्रमणास्तीर्थिहाः ' बालाः ' रागद्वेषकलिताः ' पण्डिता ' अभि-
 मानिनः शुक्लवर्णदृष्ट्याभिजाता न जानन्ति, परमार्थभूतस्यादिगालक्षणस्य धर्मस्थानेकान्तपक्षस्य वाऽनाश्रयणात् । यदि वा
 यत्र तत्रे भ्रमणा यत्नाः पण्डिता न जानन्तीत्येवं वाचं न निरुजेत्, तत्रेणं कोपोत्पत्तेः, यत्रैतम्भूतं तत्रस्तत्र वाच्यं, यतः—
 “ + प्रदण्डितग जेण सिगा, आसु कृप्पेज्जा वा परो । सन्वसो तं न भामिज्जा, भासं अट्टियगाभिणि ॥ १ ॥ ”
 इति मागार्थः ॥ २९ ॥ अपरमपि वारुतंयमगधिकृत्याह—

असेसं अस्वयं वा वि, सन्नदुस्खेति वा पुणो । वज्झा पाणा न वज्झसि, इति वाचं न नीसिरे ॥ ३० ॥
 व्याख्या—इह जगति गेवेऽपि घटपटादयः पदार्था एतान्तेन नित्याः—शाश्वताः, सर्वे जगदकृतं नित्यं एवं न ब्रूयात्,
 गेवेणं परावर्तिनां प्रतिगमयं चान्यथा भावदर्शनात्, सर्वथा क्षणिकमेवमपि न ब्रूयात् । तथा सर्वे जगद्गुःखात्मकमेवमपि
 न वेदन्, गुखात्मकस्यापि गम्यगदर्शनादिभावेन दर्शनात्, यतः—“ × तणसंभारनिसन्नोऽधि, सुणिचरो भट्टरागमय-
 मोत्ते । जं पाणउ सुत्तिसुत्तं, कत्तो ? तं चाक्खच्छीयि ॥ १ ॥ ” इत्यादि, तथा तद्व्याधोरपारदारिकादयोऽवध्या वा,
 तत्कर्मनिमित्तप्रयत्नान्, इत्येवम्भूतां वाचं स्वाचुष्टानपरायणः साधुः परव्यापारनिरपेक्षो न निरुजेत् । तथाहि—सिंहव्याघ्र

+ अधीतिकं यथा स्यादाजु कुल्लेहा परः । सर्वथा ता न भायेत भाषामहितगामिणीम् ॥ १ ॥

× क्णसंभारकनियणोऽपि मुनिचरो भट्टरागमदगोहः । यथाप्नोति मुक्तिमुग कुतस्तत्रकथस्येपि ॥ १ ॥
 * अथकथने दिग्भारिकर्षणायव्यकथने न धीगेनिकर्मणाम् ।

भाषांगीनां परमपरव्यापानपरायणान् दृष्ट्वा माध्यस्थ्यमलम्बयेत् । तथाऽमी गवादयो वाक्षा न वाक्षा वा तथाऽमी बुक्षा-
 ष्ट्रेषु वा ष्ट्रेषु वा इत्यादिकं तत्रो न नाल्यं माधुनेति गाथार्थः ॥ ३० ॥

अथापपपगो गारुण्यमप्रकारोऽन्तःकरणशुद्धिमाश्रितः प्रदर्शयते—

त्रीसंति समियाचारा, भिन्नबुणो साहुजीविणो । एए सिच्छोवजीवित्ति, इति दिट्ठिं न धारए ॥ ३१ ॥

श्याख्या—नगत्येकं दृश्यन्ते 'समियाचार' [ति ममिताचाराः] सिद्धान्तोक्ताचारे प्रवर्तमाना भिक्षवो दोषरहिता-
 दासगोपिगम्याया माधुतीविनः, न कस्यचिदपराधविधायिनः, क्षान्ता दान्ता जितेन्द्रिया जितक्रोधा ईर्याशोषका युगमात्रा-
 न्नाऽप्ययः मन्गमन्था दृढमताः परिपूनीदरुपायिनो मौनिनः मदा तायिनो विविकैकान्तध्यानाध्यासिनोऽसौत्कुल्यास्तानेवम्भू-
 तानाचार्यापि 'परगा अपि गीतगा इव चेष्टन्ते' इति मत्वा एते मिध्योपजीविन इत्येवं दृष्टिं न धारयेत्—नैवम्भूतमव्यवसायं
 कुर्यान्नाप्येवम्भूतां नानं निसृजेत्—यथैते मिध्योपाचारप्रवृत्ता मायाविन इति, छद्मस्थेन ह्यर्थागदर्शिना एवम्भूतस्य निश्चयस्य
 कर्तुंमगमन्नादित्वाभिप्रायः, ते च स्वयुध्या वा भवेयुस्तीर्थान्तरीया वा, तालुभात्रपि न वक्तव्यौ साधुनेति ॥ ३१ ॥ किञ्च—

दक्खिणाए पडिलंभो, अरिथ वा नत्थि वा पुणो । न वियागरेज्ज मेहावी, संतिमगं च वूहए ॥ ३२ ॥

श्याख्या—दान दक्षिणा, तस्याः 'प्रतिलम्भः' प्राप्तिः, स दानलाभोऽस्माद्बृहस्थादेः सकाशादस्ति नास्ति वेत्येवं
 न व्यापृणीयान 'मेधावी' मर्यादावान् स्वयुध्यस्य तीर्थान्तरीयस्य वा एकान्तेन दानं-दाननिषेधं वा न कुर्यात्, तथाहि—

तद्दाननिषेधेऽन्तरायमम्भत्रः, तद्दानानुमतावप्यधिकरणोद्भवः, इत्यतोऽस्ति दानं न वेत्येकान्तेन न ब्रूयात् । कथं तर्हि
 न्यायः ? इति दर्शयति— 'शान्ति'र्मोक्ष[स्तस्य]मार्गस्तं 'उपबृंहयेत्' वद्धयेत्, यथा मोक्षमार्गाभिवृद्धिर्भवति तथा वदे
 दिल्यर्थः । एतावता यथा मामघं स्यात्तथा न वदेदिति गार्थार्थः ॥ ३२ ॥

इचेएहिं ठाणेहिं, जिणादिट्टेहिं संजए । धारयंते उ अप्पाणं, आमोक्खलाए परिव्वएज्जासि त्तिबेमि ॥ ३३ ॥

वीयसुयखंधस्स अणायारनामं पंचमज्झयणं समत्तं ॥ ५ ॥

व्याख्या—इत्येतेरेकान्तनिषेधद्वारेणानेकान्तविधायिभिः स्थानैर्वाक्संयमप्रधानैः समस्ताध्ययनोक्तैः रागद्वेपरहितैर्जिन-
 : दृष्टरूपलब्धेन स्वमतिविरूपोत्थापितैः 'संयतः' संयमवानात्मानं धारयन्, एभिः स्थानैरात्मानं वर्त्तयन् आमोक्षाय[अ]शेष
 कर्मधर्याथं 'परि' ममन्तारसंयमानुष्ठाने 'व्रजेः' गच्छेस्त्वमिति विनयस्योपदेशः । इतिः परिममाप्त्यर्थे, व्रजीमीति पूर्ववत् ।

इति श्रीपरमसुविहितखरतरगच्छत्रिभूषणपाठकप्रवरश्रीमत्माधुरङ्गगणिवरसन्देहायां श्रीसूत्रकृताङ्ग-
 दीपिकायां ममाप्तमनाचारश्रुताख्यं पञ्चममध्ययनमिति ॥ ५ ॥



अथ षष्ठमार्द्रकीयमध्ययनम् ।



उक्त षष्ठमध्ययनं, साम्प्रतं षष्ठमारभ्यते इदमार्द्रकहृमाराध्ययनम् ।

एतु भार्द्रकहृमारोत्पत्तिः प्राग्भासास्वरूपपतिमादर्शनोत्पन्नजातिस्मरणादिकं सर्वं बृहद्वी हातोऽनसेयं, अत्र तु स्वार्थ एव
व्यवहृतो, तथादि—

पुरे कडं अद् ! इमं सुणेह, एगंतवारी समणे पुरासी ।

से शिशुणो उवणेत्ता अणेगे, आइखलतिण्हि पुढो वित्थरेपं ॥ १ ॥

व्याख्या—यथा गोलालहेन समं वारोऽभूत्तार्द्रकहृमारस्य तथाऽनेनाध्ययनेनोपदिश्यते, तं च राजपुत्रमार्द्रकहृमारं
पदेऽन्वयं भगवत्समोपमागच्छतं गोशाललोभसीत्, यथा—गो आर्द्रक ! यदहं अभीमि तच्छृणु, 'पुरा' पूर्वं यदनेन
प्राणोपेक्षता इत्तं त्वेति त्वेति—पुरा एवान्तप्रदेशवारी—भ्रमणः पुराऽऽसीत्तपभ्रमणोद्युक्तः, साम्प्रतं तूयैस्तपभ्रमणी-
पदेऽन्वये त्वेति त्वेति—सो भ्रमणं कथयति । बहून् शिशुतुपनीय—प्रभूतशिशुपपरिवारं कृत्वा भवद्विधानां सुग्ध
पदः—तदेव नो पर्यभाषते पुग्रह पृग्रह निस्तारेणेति गाथार्थः ॥ १ ॥

साऽऽजीविया पट्टविताऽथिरेणं, सभागओ गणओ भिक्खुमज्झे ।

आइक्खमाणो बहुजन्नमत्थं, न संधयाती अवरेण पुवं ॥ २ ॥

व्याख्या—येयं बहुजनमध्यगतेन युष्मद्गुरुणा धर्मदेशना प्रारब्धा सा आजीविका प्रस्थापिता, एकाकी विहरन् पामरैः परिभूयत इति मत्वा महान् परिकरः कृतः, तदनेन दम्भप्रधानेन आजीविकार्थमिदमारब्धं अस्थिरेण, पूर्वमयं मया सार्द्धमेकाकगन्धप्रान्नाग्नेन शून्यारागदेरहुलादौ वृत्ति कल्पितवान्, न च तथाभूतमनुष्ठानं सिकताकत्रलत्रन्निरास्वादं यावज्जीवं कर्तुमलं, अतो मां विहाय बहून् शिष्यान् प्रतार्य एतम्भूतेन स्फटाटोपेन विहरतीत्यतो अनवस्थितचित्तः, पूर्वचर्यापरित्यागेनापराचारममाश्रयणात् । ' मभागतः ' पर्षदि व्यग्रस्थितः ' गणओ ' चहुशो भिक्षूणां मध्यगतो (बहुजन्यमर्थ-) बहुजनहितमर्थं कथयन् विहरति, एतच्चास्यानुष्ठानं [पूर्वापर न सन्दधाति-] पूर्वापरविरुद्धं, यदि साम्प्रतीयं वृत्तं प्राकारमयसिंहामनाशोकशुभामण्डलत्रचामरादिकं मोक्षाङ्गममविष्यत्ततो या प्राक्तना चर्या कुशबहुलाऽनेन कृता सा कुशेयाय केवलं, अथ निर्जराहेतुका परमार्थभूता ततः साम्प्रतावस्था परप्रतारकत्वाद्दम्भकल्पा, ततः पूर्वोत्तरयोरनुष्ठानयोर्मौनव्रत-धर्मदेशनयोः परस्परतो विरोध इति गाथार्थः ॥ २ ॥ अपि च—

एगंतमेवं अदुवावि इण्हि, दोवणमन्नं न समेति जम्हा ।

पुब्बि च इण्हि च अणागयं च, एगंतमेवं पडिसंधयाति ॥ ३ ॥

व्याख्या—रायेरुल्लान्चारिन्ममैव शोभनं, पूर्वमाश्रितत्वात्ततः सर्वत्रान्यनिरपेक्षैस्तदेव कर्तव्यं, अथ चेदं महापरिवार-
 रायाप्या गन्धमं तन्मन्त्रंवाटात्राप्याचरणीयमासीत्, अपि च द्वे अप्येते छायाऽऽतपवदत्यन्तविरोधिनी वृत्ते नैकत्र
 नमराय गन्धः । तथा यदि मौनेन धर्मस्ततः किमियं महता प्रबन्धेन धर्मदेशना ? अथानयैव धर्मस्ततः किमिति पूर्वं
 मौनरासेनाऽऽलम्बे ? । तदेवं गोशालकेनोक्ते मत्यार्द्रकः श्लोकप्रश्नार्द्धेनोत्तरदानायाह—' पुष्टिं च 'त्यादि, ' पूर्वं ' पूर्व-
 म्भिन तान्ते रन्मौनत्रिरुन् यया चैकचर्या तच्छ्रवस्थत्वाद् घातिकर्मचतुष्टयक्षयार्थं, साम्प्रतं यद्भर्मदेशनादीनां दानं तत्तीर्थ-
 करनाम्ना वेदनायं " + तं च कष्टं वेदज्जड ? अगिलाए धम्मदेशणार्द्धिहिं " इति वचनात्, अपरामां चोच्चैर्गोत्र-
 शुमायुनामादीनां शुभप्रकृतीनां वेदनार्थमिति, यदिवा पूर्वं साम्प्रतं चानागते काले [च] रागद्वेषरहितत्वादेकत्वभावनाऽनति-
 क्रमणाचरुन्मैवाशेषजननिं धर्मं कथयन् सन्दधाति, न तस्य पूर्वोत्तरयोरेवस्थयोराशंमारहितत्वाद्भेदोऽस्ति । यदुच्यते—
 पूर्वानिग्योरान्ययोर्भेदमनन किञ्चित् ॥ ३ ॥ अथ धर्मदेशनया श्रोतॄणां कश्चिदुपकारोऽपि स्यादत आह—

समिच्च लोयं तसथावराणं, खेमंकरे समणे साहणे वा ।

आइक्खमाणो वि सहस्समज्जे, एगंतयं सारथई तहच्चे ॥ ४ ॥

व्याख्या—' ममेत्य ' ज्ञात्वा लोकं त्रसस्थावराणां जन्तूनां ' क्षेमं ' शान्तिः—रक्षा, तत्करणशीलः क्षेमङ्करः श्रमणो

+ तस कथ वेद्यते ! अगलान्या धर्मदेशनादिभिः ।

माशुनो वा, स एतम्भूतो निर्ममो रागद्वेपरहितः प्राणिहितार्थं, न लाभपूजाख्यात्यर्थं, धर्ममाचक्षणोऽपि प्राग्वच्छब्दास्थान-
 भागां मौनत्रिक उचोत्पन्नदिव्यज्ञानोऽपि देवासुरनरतिर्यक्रमहृन्मध्येऽपि व्यवस्थितः पङ्काधारपङ्कजवत्तदोषव्यासङ्गा-
 (संपोषा) भ्रातान्ममन्परिरहादाशंमादोषविकलत्वादेकान्तमेव [मारयति-] साधयति । अस्य भगवतः पूर्ववस्थासाम्प्रत-
 त्वादीनामभ्यगोर्नास्त्यन्तर. रागद्वेषाभावात् । तथा प्राग्वदर्चा-लेख्या शुक्लध्यानाख्या यस्य, अष्टमहाप्रातिहार्यैः पूज्य-
 मानोऽपि नोन्ने[नोन्से] कं-गां विदधाति, जितरागद्वेषत्वात् । तथा चोक्तं—“ रागद्वेषौ विनिर्जित्य, किमरण्ये
 रुरिष्यसि ? । अथ नो निर्जितान्वेतौ, किमरण्ये करिष्यसि ? ॥ १ ॥ ” तथा बाह्यमनङ्गमान्तर कपायजयादिकं
 प्रधान कारणमिति गायार्थः ॥ ४ ॥

अथ भगवाननर्कलोकः परिवृतोऽपि रागद्वेषाभावादेकान्तचार्येवासौ मन्तव्यः, निरीहः मन् धर्मं कथयन्नपि न दोष-
 भागिति दर्शयति—

धर्मं कहंतस्स उ नरिथ दोसो, खंतस्स दंतस्स जिइंदियस्स ।

भासाइ दोसे य त्रिवज्जगस्स, गुणे य भासाइ निसेवगस्स ॥ ५ ॥

व्याख्या—तस्य भगवतोऽपगतघनघातिकलङ्कस्योत्पन्नमकलपदार्याविभिर्विज्ञानस्य जगदशयुद्धरणप्रवृत्तस्यैकान्तपर-
 हितकारिणः स्वकार्यनिरपेक्षस्य ज्ञान्तस्य दान्तस्य जितेन्द्रियस्य मापादोषविवर्जकस्य कर्कशामभ्यवचोवर्जकस्य तथा

भाषाया ऽ गुणा दिनमिन्द्रंशकालामन्द्रिग्गगापणादग्मत्त्रिपेनरुस्य सतो धर्मं रुथयतोऽपि नास्ति दोषः, छद्मस्थस्य हि
[पाद्भ्येन] मोनगो भेयः गमुत्पन्नकालस्य हि भाषणमपि गुणायेति गाथार्थः ॥ ५ ॥

किम्भूत भगवतो रुथयतीत्याह—

महन्नए पंच अणुवए य, तेह्व पंचासव संवरे य ।

चिरइं इहस्सामणियंमि पद्धे, लवावसक्की समणे त्तिबेमि ॥ ६ ॥

व्याख्या—पञ्चमहाव्रतानि तथा पञ्चैनाणुव्रतानि श्रानकानुद्दिश्य प्रश्नापितवान्, तथा पञ्चाश्रवसंवरं च तथा सप्तदश-
प्रकारं मंगमं च प्रतिपादितवान्, संगमगतो हि विरतिर्भवत्यतो विरतिं च प्रतिपादितवान्, च शब्दात्तत्फलभूतो निर्जरा-
मोक्षो च कथितवान् । कथम्भूतः ? श्रापण्ये प्राप्तः प्राज्ञो वा एतत्प्रतिपादितवान्, कथम्भूतो ? ‘ लवावसक्की ’ लवं-
कर्म, तस्मादात्मस्पर्ति, एवंनिधः श्रमणस्तपस्वी, स्वयमेव हि भगवान् पञ्चमहाव्रतोपपन्न इन्द्रियनोहन्द्रियगुप्तो विरतो
नराग[धक्की]मर्षी मन्, ततोऽन्येषामपि तथाभूतमुपदेशं दत्तवान् । तत आर्द्रककुमारवचनमाकर्ण्य गोशालकस्तत्प्रतिपक्ष-
भूतमथ लकुलाम इदमाह—इत्येतद्दक्ष्यमाण यदहं ब्रवीमि तच्छृणु त्वमिति गाथार्थः ॥ ६ ॥ अथाह गोशालकः—

सीओदगं सेवउ बीयकायं, अहायकम्मं तह इत्थियाओ ।

एगंतचारिस्सिह अम्मह धम्मे, तवस्सिणो णाभिसमेति पावं ॥ ७ ॥

व्याख्या - भो आर्द्रकृषार ! त्वया प्रतिपादितं-परार्थं प्रवृत्तस्याष्टमहाप्रातिहार्यादिपरिग्रहस्तथा शिष्यादिपरिग्रहो धर्म-
 ईशना न दोषाय यथा तथाऽऽम्माकमपि सिद्धान्ते यदेतद्वक्ष्यमाणं तन्न दोषाय. तथाहि- ' शीतोदकं 'मप्रासुकोदकं, तत्परि-
 भोगे न दोषस्तथा बीजकायपरिभोगमाघातकर्ममिश्रणं स्त्रीप्रसङ्गं च विदधातु, अस्मदीये धर्मे प्रवृत्तस्य ' एकान्तचारिणः '
 चारागोशानादिव्येकाक्रिंहारोघतस्य तवस्तिनः पापं नाभिममेति-न लगतीत्यर्थः । इदमुक्तं भवति-शीतोदकस्त्रीप्रसङ्गादिकं
 न यत्पीयतकर्मबन्धाय तथापि मम्मभिार शरीर प्रतिपालयत एरुान्तचारिणस्तपस्विनो न बन्धाय भवतीति गार्थः ॥ ७ ॥

चय आर्द्रक उमान-

सीओदगं वा तह वीयकायं, अहायकम्मं तह इत्थियाओ ।

एयाइं जाणं पडिसेवमाणा, अगारिणो अस्समणा भवंति ॥ ८ ॥

व्याख्या - अगारिणो अस्समणा भवंति ॥ ८ ॥

१

इमं वयं तु तुमं पाउकुव्वं, पावाइणो गरिहसि सब एव ।

पावाइणो पुढो किट्टयंता, सयं सयं दिट्ठि करिंति पाउ ॥ ११ ॥

ग्याप्तया—अहो आर्द्रकुमार ! ' इमां ' पूर्वोक्तां वाचं ' प्रादुर्कुर्वन् ' प्रकाशयन् मर्वांन् प्रावाडुकान् गर्हसि, यस्मान्मर्षेऽपि नीर्यिका बीजोदकादिभोजिनोऽपि संमारोच्छेदनाय प्रवृत्तन्ते, ते तु भवता नाभ्युपगम्यन्ते, ते तु प्रावाडुकाः पृथक् पृथक् स्वीया स्वीया दृष्टिं प्रत्येकं स्वदर्शनं कीर्त्तयन्तः ' प्रादुर्कुर्वन्ति ' प्रकाशयन्ति, यदिवा श्लोकपश्चाद्धिसार्द्रक-कुमार याह—मर्षेऽपि प्रावाडुका यथावस्थितं स्वदर्शनं प्रादुर्कुर्वन्ति, तत्प्रामाण्याच्च वयमपि स्वदर्शनाविर्भावानं कुर्मः, तथाहि—यपानुक्तेन बीजोदकादिगिरिभोगेन कर्मबन्ध एव केवलं, न संमारोच्छेदः, इतीदमस्मदीयं दर्शनं, एवं च व्यनस्थिते काऽत्र-पगनिन्दा ? को वाऽऽत्मोत्कर्ष ? इति गाथार्थः ॥ ११ ॥ किञ्च—

ते अन्नमन्नस्स तु गरहमाणा, अब्खंति भो समणा माहणा य ।

सतो य अत्थी असतो य णत्थी, गरहामो दिट्ठीं ण गरहामो किञ्चि ॥ १२ ॥

व्याख्या—' ते ' प्रावाडुकाः ' अन्योऽन्यस्य ' परस्परेण तु स्वदर्शनं स्वदर्शनं गर्हमाणाः स्वदर्शनगुणान् कथयन्ति, ते श्रमणा ब्राह्मणाः स्वपक्षमेव समर्थयन्ति परकीयं च दूषयन्ति । तदेव पश्चाद्धेन दर्शयन्ति—स्वकीये पक्षे स्थाप्य-मानेऽस्ति पुण्यं तन्कार्यं च स्वर्गोपगमादिकमस्ति, ' अस्वत ' पराम्युपगमाच्च नास्ति पुण्यादिकमित्येवं मर्षेऽपि तीर्थिकाः

परस्परव्यापानेन पृथगाः. अतो ययमपि यथावस्थिततत्रप्ररूपणतो युक्तिविकल्पादेकान्तदृष्टिं गहर्हिमो, नापरं किमपि गहर्हिमः,
मन्ये उक्ते न ताडपि गहर्हि X, एरान्तायदं निराकर्मः, न परवादिनो, रागद्वेषविग्रहान्न कमपि गहर्हिम इति गाथार्थः ॥ १२ ॥

एतरे व्यष्टनमाह—

न किञ्चि रूत्रेणऽभिधारयामो, सदितिमगं तु करेमो पाडं ।
मगगे इमे किट्टिए आरिएहिं, अणुत्तरे सप्युरिसेहिं अंजू ॥ १३ ॥

ऋग्या—मो गोशालक ! वयं न कञ्चन श्रमणं ब्राह्मणं वा 'रूपेण' जुगुप्सिताङ्गोपाङ्गोद्वेषद्वेनेन जात्यादिमर्मप्र-
हागनेन[वा] गहर्हिमः, केवलं स्वदृष्टिमागं प्रादुर्कर्मः—स्वदर्शनं प्रकाशयामः, अथवाऽन्यदर्शनप्ररूपितं मागं दर्शयामः, यथा-
" ब्रह्मा त्दनशिरा हरिर्दृष्टि मरुकू व्यालुसशिश्नो हरः, सूर्योऽप्युच्छिखितोऽनलोऽप्यखिलसुकू सोमः
कलफ्राहितः । स्वर्नाथोऽपि त्रिसंस्थुलः त्वलु वपुःसंस्थैरुपस्थैः कृतः, सन्मागर्गसखलनाङ्गवन्ति विपदः प्रायः
प्रभूणामपि ॥ १ ॥ " इत्यादि, एतच्च तैरेव स्वागमे पठ्यते, वयं तु श्रोतारः, परं न कस्याप्यपवादं कुर्मः । अयमस्मदीयो
मार्गः 'अनुत्तरः' प्रधानः 'आर्थ्यः' सर्वज्ञैः [कीर्तितः] प्ररूपितः अत एव 'अंजू' इति व्यक्तो, निर्दोषत्वात्प्रकटः

“ नेत्रैर्निरीक्ष्य विलकण्टककीटमपान्, सम्यग्यथा ब्रजत तान्परिहृत्य सर्वान् ।

X “ नेत्रैर्निरीक्ष्य विलकण्टककीटमपान्, सम्यग् वि(वा)रयत कोऽत्र परापवादः ? ॥ १ ॥ ” इति हर्ष०
कुक्षानकुशुतिकुमागंकुदृष्टिदोषान्, सम्यग् वि(वा)रयत कोऽत्र परापवादः ? ॥ १ ॥ ” इति हर्ष०

[एतत्] गोगालकमतं परिहर्तुकाम आर्द्रक आह—

णोऽकामकिञ्चा ण य वालकिञ्चा, रायाभिओगेण कुओ भएणं ।

वियागेरेजा पसिणं नवावि, स कामकिञ्चेणिह आरियाणं ॥ १७ ॥

व्याख्या—ओ गोगालक ! म हि भगवान् प्रेक्षापूर्वकारितया नाकामकृत्यो भवति, एतावता अनिच्छाकारी न भवति ।
गो यानिभृशयकारितया भवति सोऽनिष्टमपि—एतपरत्तमनो निरर्थकमपि कृत्यं कुर्वीत, भगवौस्तु सर्वज्ञः सर्वदर्शी परहितैकरतः
[रूपं] एतपरयोनिकयकारकमेवं कुर्यात् ? तथा न चासौ बालकृत्यः—बालवदनालोचितकारी न पराऽनुरोधान्नाऽपि गौरवा-
दधर्मदेशनादिकं विधत्ते, अपितु यदि रुस्यचिद्धव्यमत्त्वस्योपकाराय तद्भाषितं भवति तेन प्रवृत्तिर्भवति, नान्यथा, तथा
न रात्राभियोगेनामौ धर्मदेशनादौ कथञ्चित्प्रवर्त्तते, ततः कुतस्तस्य भयेन प्रवृत्तिः ? स्यादित्येवं व्यवस्थिते केनचित्
कृत्स्नसंगयकृत प्रश्न व्यागृणीयाद् यदि तस्योपकारो भवति, उपकारमन्तरेण न व्यागृणीयाद्, यदिवा अनुत्तरसुराणां
मनःपर्यवत्रानिनां च द्रव्यमनसं च तन्निर्णयममत्रादतो न व्यागृणीयादित्युच्यते, यद्भवता कथ्यते—वीतरागोऽसौ किमिति
धर्मकथां करोतीति ? चेदिन्यागच्छयाह—‘ स्रकामकृत्येन ’ स्वेच्छा[चागि]कारितयाऽमात्रपि तीर्थकृत्नामकर्मणः क्षपणाय,
न ययाकथञ्चिद्, अतोऽमात्रग्लान ‘ इह ’ अस्मिन् समारे आर्यक्षेत्रे चोपकारयोग्ये आर्यर्षिणामुपकाराय धर्मदेशनां
व्यागृणीयादमाप्ति गार्थायः ॥ १७ ॥ किञ्चान्यत्—

पदं जहा त्रिणिण उदयट्टी, आयस्स हेउं पगरेति संगं ।

नओवसे समणे नायपुत्ते, इच्चेत्र से होति मती वियक्खा ॥ १९ ॥

व्याख्या—भो आद्रंहुमार ! यथा रुचिद्वणिक्क ' उदयार्थी ' लाभार्थी ' पण्यं ' व्यवहारयोग्यं भाण्डं कर्पूरागुरु-
रुन्धुरिकाऽप्यसदिकु गन्था देगान्तर रिक्कीणाति, तथा ' आयस्य ' लाभस्य ' हेतोः ' कारणान्महाजनमङ्गं विधत्ते, तदु-
पमोऽयमपि भाचीयंहरः ' अमणो ' ज्ञातपुनः इत्येवं से मतिर्भवति वितर्को-मीमांसा वेति गाथार्थः ॥ १९ ॥
एवमुक्ते गोशालकेन आद्रंक आह—

णयं ण कुज्जा विहुणे पुराणं, चिच्चाऽमइं ता[इ]य इ(?)साह एवं ।

प(त्ता)न्ना [एत्ते]वया बंभवतित्ति बुत्ता, तस्सोदयट्टी समणे त्तिवेसि ॥ २० ॥

व्याख्या—भो गोशालक ! योऽयं नणिग्ग्घण्तो दर्शितः, म किं मर्वतो देशतो वा सदक्षः ? यदि देशतस्ततो न नः
(अस्माक) धनिमानहति, यतो नणिग्गैर लाभ पश्यति तत्रैव क्रियां व्यापारयति, न यथाकथञ्चिदिति, एतावता
नाधर्म्यमस्येय । अथ सर्वमाधर्म्येण, तन्न युज्यते, यतो भगवान् त्रिदितवेद्यतया मानद्यानुष्ठानरहितो नवं कर्म न कुर्याति,
तथा विभूतय-त्यपनयति पुरातनं यद्भ्रूोपप्राहिकर्म चंद्रं, तथा त्यक्त्वा ' अमति ' विमति ' त्रायी ' भगवान् ' त्रायी वा '
मोक्षं पनि गमनजीलो भवतीति, एतावता च मन्दर्भेण ' ब्रह्मणो ' मोक्षस्य व्रतं ब्राह्मणतमित्येतदुक्तं, तस्मिन्थोक्ते तदर्थे च

चतुष्टाने क्रियमाणे तस्योदयस्वार्थी-लाभार्थी श्रमण इति त्रयीम्यहमिति ॥ २० ॥
न चोत्थृता णिज इति पुनरार्द्रकुमारो दर्शयितुमाह—

समारभन्ते वणिग्या भूयगामं, परिग्गहं चैव समायमाणा ।

ते णातिसंजोगमविप्पहाय, आयस्स हेउं पकरेति संगं ॥ २१ ॥

श्याउया—ते दि णिजश्चतुर्दशप्रकारमपि भूतग्रामं समारभन्ते, तदुपमर्दकाः क्रियाः प्रवर्त्तयन्ति क्रयविक्रयार्थं शकट-
रुडोत्थृता (धाना)दिभिरनुष्ठानैरिति, तथा परिग्रहं द्विपदचतुष्टयादिकं समीकुर्वन्ति, ते हि वणिजो ज्ञातिभिः सह
भूयगं ' औपहाय ' अपरिलज्ज ' आयस्य ' लाभस्य हेतोरपरेण सार्द्धं ' सङ्गं ' सम्बन्धं कुर्वन्ति । भगवस्तु-षड्जीव-
प्यारोप्यारोप्यस्सक्कसालनपञ्चः सर्वनापतिब्रह्मो धर्माऽऽयमन्वेषयन् गत्वाऽपि धम्मदेशनां विधत्ते, अतो भगवतो
॥ जाणः मार्दं न भवनाथम्यंमस्तीति गाथार्थः ॥ २१ ॥ पुनरपि वणिजां दोषमुद्धावयन्नाह—

चित्तेसिणो मेहुणसंपगाढा, ते भोयणट्ठा वणिग्या वयंति ।

अपं तु कामेहि अज्झोववन्ना, अणारिया पेमरसेसु गिच्छा ॥ २२ ॥

॥ १ ॥ चित्तेसिणग्या ' मेहुणे ' क्षीसम्पक्के ' सम्पगाढा ' अणुपपन्नास्तथा ते भोजनार्थ-माहारार्थं वणिज
अणारिया ॥, तांए वणिजो नयमेवं त्सो-यथैते कामेण्णुपपन्नाः-गृद्धाः, अनार्या रसेषु च साता-

गीरात्रिणु 'गृदा' मूर्च्छिताः, न त्वेवम्भूता भगवन्त्वोर्दन्तः, कथं तेषां तैः सह माधर्म्यमिति दूरत एव निरस्वैषा कथेति
 माधः ॥ २२ ॥ किञ्च—

आरंभगं चेत्यपरिग्रहं च, अत्रिउस्सिसया णिस्सिसय आयंदंडा ।

तेसिं च से उदए जं वयासी, चउरंतणंताय दुहाय णेह ॥ २३ ॥

व्याख्या—आरंभ परिग्रहं च 'अव्युत्सृज्य' अपरित्यज्य तस्मिन्नेवारम्भे परिग्रहे च निश्चयेन 'सुता' बद्धा-
 निस्तुता गणिज्ञो भवति । तथा आत्मदण्डा अमदाचारप्रवृत्तेरिति, भावोऽपि च तेषां वणिजां परिग्रहारम्भवतां स 'उदयो'
 लामो गद्यं ते पटुनाः यं च न्यं लामं नदसि, स तेषां 'चतुरन्तः' चतुर्गतिको यः संसारोऽनन्तस्तस्मै—तदर्थं भवतीति,
 [तथा] दृग्वाप्य च भवति । अतस्त्वमर्हतां वणिजां साम्यं मा कुर्विति गार्थः ॥ २३ ॥ एतदेव दर्शयितुमाह—

णेगंतिएऽणच्चंतिय उदए से, वयंति ते दो वि गुणोदयंमि ।

से उदए सातिमणंतपत्ते, तसुदयं साहयइ ताइ णाई ॥ २४ ॥

व्याख्या—अहो गोगालक ! म वणिजां लामो नैरुन्तिकः, लामार्थं धावतामलामोऽपि स्यात्, स तु लाम
 नान्यपि नोऽपि न-आश्रय सर्वकालमाव्यपि न, कदाचित्स्यात् कदाचिन्नेति व्यापारविदो वदन्ति । तौ च द्वावपि भावौ
 णिगनगुणोदयो, किमुक्त गतिः ? किं तेनोदयेन-लामेन ? यो नैरुन्तिको नान्यन्तिकश्च अनर्थाय च प्रत्युत स्यात् । तथा

नानाः नान्यस्य यो नामः स कालज्ञानप्राप्तिलक्षणो निर्जरारूप एव, स तु माघनन्तो लाभ इति, एवंविधलाभमहितो भगवान् अन्येणामपि नाऽग्रिममेव लाभं ददाति । कथम्भूतो भगवान् ? त्रायी, आसन्नसिद्धिगमनानां त्राणकरणात् तस्य ' ज्ञानी ' ज्ञानवृत्तिप्रवृत्तौ द्वयः अथवा ' ज्ञात्री ' त्रिदितममस्तवेद्य इत्यर्थः । तदेवम्भूतेन भगवता तेषां वणिजां त्रिदित्तिना कथं सर्वमाघर्म्यं ? कथं वा तैः मह भगवतः उपमानं दीयत ? इति गाथार्थः ॥ २४ ॥

नाम्नानं देवाकृतमममरणपद्यावलीदेवच्छन्दकसिंहामनादिकोपभोगं कुर्वन्नप्याधाकर्मकृतवसतिनिषेवकसाधुवक्तथं तदनु-
सन्निहनेन कर्मगाऽनौ न लिप्यत इत्येतद्वोगालकमतमाशङ्क्याह आर्द्रकुमारः—

अद्विसयं सवपयाणुकंपी, धम्मे ठितं कम्मविवेगहेउं ।

तमायदंडेहिं समायरंता, अबोहीए ते पडिख्वमेयं ॥ २५ ॥

श्याख्या—सो गोगालक ! असौ भगवान् ममवसरणाद्युपभोगं कुर्वन्नप्यहिसन्नुपभोगं करोति, एतदुक्तं भवति—न हि नय मगतो मनागप्याग्रंमा प्रतिवन्द्यो वा विद्यते, समवृणमणिलोष्टुकाञ्चनतया तदुपभोगप्रवृत्तेर्देवाः प्रवचनप्रभावनाहेतोः मम्यस्वनिर्मर्मलीकरणार्थमर्द्धद्रुक्तिभाविताः सन्तः प्रवर्चन्ते, अतोऽसौ भगवानहिमकः, तथा सर्वप्रजाऽनुकम्पकः । एवम्भूतं भगवान् प्रथमं व्यवस्थितं कर्मविवेकहेतुभूतं भवद्विधा आत्मदण्डैः समाचरन्त आत्मकल्पं कुर्वन्ति वणिगादिभिरुदाहरणै-
रेवचयोने-रनिज्ञानम्य प्रतिरूपं वर्चते । एकं तावदिदमज्ञानं—यत्स्वतः कुमारगप्रवर्चनं द्वितीयं च यद्भगवतामपि जग-

उन्मत्तानां मर्यानिगमनिधानभूतानामितरैः मगत्वापादनमिति गाथार्थः ॥ २५ ॥

माभ्यनगार्द्ररुमागमपहस्मितगोशालरु ततो मगनदभिमुखं गच्छन्तं दृष्ट्वाऽपान्तराले शाक्यपुत्रीया भिक्षव इदमृचुर्यदेत
दनिगदशान्त गोशालोकं रागा दूषितं तच्छोभनं कृतं भवता, यतो बालमनुष्ठानं शून्यप्रायं अन्तरङ्गमनुष्ठानमेव प्रधानं
मोभाङ्गं जानव्यम् । अस्मान्निद्वान्तेऽप्येवमेव व्यानर्ण्यते, सो आर्द्रककुमार ! त्वं सावधानतया मनुक्तमवधारयेति मणित्वा
तो गिभतः आन्तरानुष्ठानमर्थरुमात्मीयसिद्धान्ताविर्गानायेदमाहुः ।

पिन्नागपिंडीमवि विद्धु सूले, केइ पएज्जा पुरिसे इमेत्ति ।

अलाउयं वावि कुमारएत्ति, स लिप्पती पाणिवहेण अम्हं ॥ २६ ॥

व्याख्या—‘पिण्यारुः’ खलस्तस्य ‘पिण्डि’भिन्नकं खलशकलमचेतनमपि कापि स्थाने पतितं दृष्ट्वा तदुपरि केनचिन्न-
अयया प्राकरण (रासं) खलोपरि प्रथित्त, तत्र म्लेच्छेन केनाप्यन्वेष्टुं प्रवृत्तेन पुरुषोऽयमिति मत्वा खलपिण्ड्या सह गृहीतं,
ततोऽसौ म्लेच्छो बन्धयेष्टितां ता खलपिण्डि पुरुषपुञ्ज्या शूले प्रोतां पावके पचेत्, तथा ‘अलाबुकं’ तुम्बकं कुमारकोऽयमिति
मत्वा अगनावेत पपाग, स नैव चित्तस्य द्रुष्टत्वात्प्राणिवधजनितेन पातकेन लिप्यते, अस्मत्सिद्धान्ते चित्तमूलत्वाच्छुभा भ-
रन्नाम्न, अनुमपरिणामेन बन्धः, अशुभचित्तप्राणाण्यादकुर्वन्नपि प्राणातिपातं प्राणिघातफलेन युज्यत इति गाथार्थः ॥ २६ ॥

—पिणी एतानां पैपरीशेनाइ—

रुद्रिदृष्यायः पचनपाचनाद्यपि कृत्वा भोजयेत् सर्मांमगुहदाडिमेन इष्टेन भोजनेन, ते महासत्त्वाः पुरुषाः श्रद्धालवः
 पुण्यस्कन्धं [मु]महान्तं समावर्ज्य-अर्जयित्वा तेन च पुण्यस्कन्धेनाऽऽरोप्याख्या देवा भवन्ति, सर्वोत्तमां देवगतिं
 गच्छन्तीत्यर्थः ॥ २९ ॥

तदेवं बुद्धेन दानमूलः शीलमूलश्च धर्मः प्रवेदितः, तदेत्या-गच्छ बौद्धसिद्धान्तं प्रपद्यस्वेत्येवं मिश्रकैरभिहितः सन्नार्द्रको-
 ऽनाकुलया दृष्ट्या तान् वीक्ष्योवाचेदं वक्ष्यमाणमित्याह—

अजोगरूवं इह संजयाणं, पात्रं तु पापाण पसञ्ज । ३ ।

अत्रोहिण् दोणह वि तं असाहू, वयंति जेआवि पडिस्सुणंति ॥ ३० ॥

व्याख्या—अहो शाक्यपुत्रीयाः ! ' इह ' अस्मिन् भवदीये शाक्यमते ' संयतानां ' भिक्षुणां यदुक्तं भोजनं तदयो-
 [ग्यरूप-मयो]ग्यं, तथाहि-अहिसार्थमृत्थितस्य त्रिगुप्तिगुप्तस्य पञ्चममितिसमितस्य मतः प्रव्रजितस्य सम्यग्ज्ञानपूर्विकां
 क्रियां कूर्मतो गात्रशुद्धिः फलवती भवति, तद्विपर्यस्तमनेस्त्वज्ञानाद्युत्स्य महामोहाकुलीकृतान्तरात्मतया खलपुल्लभयोरपि
 विचैरुमजानतः कुतस्तथा भाव शुद्धिः ? अतोऽत्यन्तमयुक्तमेतदुद्धमवानुमारिणां यत्खलबुद्ध्या पुरुषस्य शूलप्रोतनपचनादिकं,
 तथा बुद्धस्य चाऽन्न[पिण्याक]बुद्ध्या पिशित(मांस)मशणानुमत्यादिकमित्येतदाह ' प्रागाना 'मिन्द्रियादीनामपगमनेन तु
 पापमेव कृत्वा सममातगौरादिगृह्णास्त्वदमात्रं व्यावर्णयन्ति, एतच्च तेषां पापाभावाव्यावर्णनमचौह्ये-अत्रोषिलाभार्थं तयो-

इंगोरपि ममपत्नं अनोऽग्राञ्चेत्, कयोर्दयोरित्याह—ये वदन्ति पिण्याकञ्जुद्ध्या पुरुषगार्केऽपि पातकामात्रं ये च तेभ्यः
 य-गन्नि नयोर्दयोरपि गंगोरमाञ्चेत्तदिति । अपिच-नाज्ञानावृतमूढजने भावशुद्ध्या शुद्धिर्भवति, यदि स्यात्संसारमोचकादी-
 नामपि नहि कर्मविमोक्षः स्यात्, तथा भावशुद्धिमेव केवलमभ्युपगच्छतां भवतां शिरस्तुण्डमुण्डनपिण्डपातादिकं चैत्य-
 कर्मोदिकं चानुष्ठानमनर्थकरमापद्यते, तस्मान्नैवंविधया भावशुद्ध्या शुद्धिराजायत इति स्थितमिति गाथार्थः ॥ ३० ॥

अष्टाष्टकः स्वपञ्चाविर्मानायाह—

उदुं अहेयं तिरियं दिसासु, विन्नाय लिंगं तसथावराणं ।

भूयाभिसंकाइ दुगुंछमाणे, वदे करेजा वि कओ विहऽत्थि ॥ ३१ ॥

व्याख्या—ऊर्गुमवन्निर्यक् मर्त्तसु दिक्षु त्रमानां स्थावराणां च लिङ्गं-चलनस्पन्दनाङ्कुरोद्धवच्छेद्मलानादिकं विज्ञाय
 भूयामिन्द्रया-जीवोपमर्दोऽत्र भविष्यतीत्येवं बुद्ध्या सर्वमनुष्ठानं जुगुप्समानस्तदुपमर्दं परिहरन् ' वदेत् ' धर्मं कथयेत्कुर्या-
 दयतः कुरोऽध्नीहास्मिन्नेवम्भूतेऽनुष्ठाने क्रियमाणे प्रोच्यमाने वाऽस्मत्पक्षे शुभदापादितो दोष इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥
 अथ मले पुरुषपुत्रया अमम्भवमेव दर्शयितुमाह—

पुरिसेत्ति पिन्नंति [विन्नत्ति] न एय अत्थि, अणारिए से पुरिसे तथा हु ।

को संभवो ? पिन्नगपिंडियाए, वाया वि एसा बुइया असच्चा ॥ ३२ ॥

व्याख्या—तस्यां पिण्याकपिण्ड्यां पुरुषोऽयमित्येवं महामूर्खस्यापि [विज्ञप्तिरेव नास्ति] मतिरीहशी न जायते, तथा खलेऽपि यः पुरुषमतिं मन्यते स अनार्य एवासौ यः पुरुषमेव खलोऽयमिति मत्वा हतेऽपि नास्ति दोषः इत्येवं वदेत्, तथाहि—कः सम्भन्नः ? पिण्याकपिण्ड्यां पुरुषबुद्धेरित्यतो वागपीयममत्या, ईदृग्भाषाया भाषकोऽपि निर्विकेक अशुभं कर्म वदन्ति अनन्तं च संसार रलतीति गार्थार्थः ॥ ३२ ॥ किञ्च—

वायाभिओएण जमावहेज्जा, णो तारिसं वायमुदाहरि । ।

अट्टाणमेयं वयणं गुणाणं, णो दिक्खिए बूय सुरालमेयं ॥ ३३ ॥

व्याख्या—वाचाऽभियोगो—वागभियोगस्तेनापि यस्मात्पापमात्रहेत्, अतो विवेकी—भाषागुणदोषज्ञो न तादृशी 'वाचं' भाषामुदाहरेत्—न वदेत् । यत एवं ततोऽस्थानमेतद्वचनं गुणानां, अतो यः प्रव्रजितः [उदारं—सुष्ठु परिस्थूरं] ईदृगममारं वचनं न ब्रूयात् । तद्यथा—पिण्याकोऽपि पुरुषः पुरुषोऽपि पिण्याकः तथाऽलालुकमेव बालको बालक एव अलालुकमिति गार्थार्थः ॥ ३३ ॥

साम्प्रतमार्द्रक एव तं मिश्रुं युक्तिपराजितं सन्तं सोच्छुण्ठं विमणिषुगह—

लद्धे (हु) अट्टे अहो !! एव तुब्भे, जीवाणुभागे सुविच्चितिए य ।
पुब्बं समुद्धं अवरं च पुद्धं, ओलोइए पाणितलट्टिए वा ॥ ३४ ॥

तं भुञ्जसाणा पिसितं पभूतं, नो उत्रलिप्पामो वयं रएणं ।

इञ्चेवसाहंसु अणज्जथम्मा, अणारिया बाल रसेसु गिच्छा ॥ ३८ ॥

व्याख्या—'नन' पियिनं गुरुगोणितम्भूतमनार्या इव भुञ्जाना अपि प्रभूतं तद्रजमा-पापेन कर्ममणा न त्रय-
मुरन्त्रियामहे इत्येवं धार्त्वीनाः प्रोचुनार्या 'बाला' विवेहरहिताः 'रसेषु' मांसादिषु 'गृद्धाः' मूर्च्छिताः, इत्येतच्च तेषां
मदने अनार्यायेति गार्थायः ॥ ३८ ॥ एतदेव दर्शयति—

जे यावि भुञ्जंति तहृप्पगारं, सेवंति ते पावमजाणमाणा ।

मणं न गयं कुमला करिंती, वाया वि एसा बुइया उ मिच्छा ॥ ३९ ॥

व्याख्या—ये चापि समगारगृद्धाः शाक्योपदेशचिन्तनस्थथाप्रकार मथूलोरभ्रमम्भूतं घृतलत्रणमरिचादिसंस्कृतं पित्रितं
सूक्ष्मं पापमचानानाः निर्दिष्टिनः नेचन्नेच्छ तदेवं महादोष मांसपक्षगमिति मत्वा यद्विधेय तद्दर्शयति-तदेवम्भूतं मांसाद-

३ " गदुष्ट—दिगामूलपमध्यमाम्मदमल व्यानस्य रौद्रम्य य-द्वीपन्मं रुधिराविलं कृमिगृहं दुर्गन्धिपूयाविलम् ।
शुक्रामुत्रप्रपां निनान्नमलिनं मद्रिः मदा निन्दितं, को भुक्ते ? नरकाय राक्षसममो मांसं तदात्मद्रुहः ॥ १ ॥ तथा-मांसं स-
मर्नायिनाऽप्य, यद्य मांसमिहात्रऽम् । एतन्मांसस्य मांसत्वं, प्रवदन्नि मनीषिणः ॥ २ ॥ (तथा)-योऽन्ति यस्य च मांस-
सूक्ष्मोः पश्यतान्नाम् । एरुह्य धणिका वृषि-रन्यः प्राणैर्विबुध्यते ॥ ३ ॥ " इति हर्ष०

नाभिलागरूपं मनो-इन्तःकरणं ' कुशला ' निपुणा न कुर्वन्ति, गद्गापापहेतुता [चदभिलाषा] न मनो निरर्त्तयन्ती त्यर्थः X । आस्तां मधुपं रागप्येषा " न मांस भक्षणे दोषः " इत्यादिका वागप्युक्ता महते पातकायेति मत्वा त्रचोऽपि न वाच्यमिति गार्थार्थः ॥ ३९ ॥ न केवल मांसादनमेव त्याज्यमन्यदपि मुमुक्षूणां परिहर्त्तव्यमिति दर्शयितुमाह—

सर्वेसि जीवाण दयट्टयाए, सावज्जदोसं परिवज्जयंता ।

तस्संकिणो इसिणो नायपुत्ता, उद्धिट्ठभत्तं परिवज्जयंति ॥ ४० ॥

व्याख्या—सर्वेषां जीवानां सुखाभिलाषिणां दुःखद्विषां, न केवलं पञ्चेन्द्रियाणामेवेति सर्वं ग्रहणं, ' दयास्यं ' दया-निमित्तं मात्रद्यारम्भं महामदोषं मत्वा तं परिवर्जयन्तः [तच्छङ्किनो-दोषशङ्किनः] माधवो ज्ञातपुत्रीया महर्षयः ' उद्धिट्ठं ' माधुदानाय ऋत्नितं यद्भक्तपानादिकं, तत् परिवर्जयन्तीति गार्थार्थः ॥ ४० ॥ किञ्च—

भूयाभिसंकाइ दुग्ुंछमाणा, सर्वेसि पाणाण निहाय दंडं ।

तम्हा ण भुंजंति तहप्पगारं, एसोऽणु धम्मो इह संजयाणं ॥ ४१ ॥

X " निवृत्तिगु महागुणाय, यदुक्त-श्रुत्वा दुःखपरम्परामतिवृणां मांसाशिना दुर्गतिं, ये कुर्वन्ति शुभोदयेन विरति मांसादनस्यादरात् । सदीर्घाधुरदृषितं गदरुजा सम्भाव्य यास्यन्ति ते, मर्त्येषुद्भटभोगधर्ममतिषु स्वर्गापवर्गेषु च ॥ १ ॥ " इति हर्ष० । + " पो, न मद्ये न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला ॥ १ ॥ "

आत्मा—' भूनामिदं दत्त्वा ' भूनामिदं दत्त्वा सायमनुष्ठानं ' जुगुपमानाः ' परिदन्तस्तथा सर्वेषां प्राणिनां
 ' इदं ' अपमानात्सं ' नि[चाय]राग ' त्यक्त्वा मन्मथानेनोन्त्याप मन्मथो गनयस्वतो न भुञ्जन्ते तथाप्रकारमशुद्ध-
 चातीरसाशर्मिनि, एषोऽनु र्ममः इदं प्राचने मयतानां-सतीनां तीर्थे रूपाचरणानु-पथादाचार्यने[ह्यनुना विज्ञेयते],
 चना नीने हर्गनिर्वादापराण रुं नया नदनुर्माग्भिः नायुग्मिगपि नयेत विधिं, यद्वाऽप्युगिति स्तोत्रेनाप्यनित्तारेण चाध्यते
 निर्गपारत्विना मुद्रासांसेयं धर्मं इति गाथायः ॥ ४२ ॥ स्विआन्वन्—

निगंथनममि डमं समाहिं, अस्मिन् मृदिचा अणिहे चरेजा ।

नृदः सुणी मीलमुणोवेषेण, अत्रथ[ओ]नं पाउणती सिलोमं ॥ ४२ ॥

आत्मा - निर्गन्धधर्मं-नम आसिद्धये आन्व्यादिके ता मतिोक्त अस्मिन्तः ' ह्यं ' पूर्वीकं समाधिपनुमापोऽस्मिन्था-
 दाः आर्थाः आरूपे ममा ती मूर्ध्नि[ना]ताः ' अग्निः ' मायारहितोऽस्मिन्तो वा माधुः संयमानुष्ठानं चेत, तथा तद्वो-
 चात्तापो ' मूनिः ' हायामानि, तथा ओडेव ओतायप्रथमपयेण युग्मेश-मृलाचरणभूतेरुपेनो-युक्तः इत्येवं युग-
 र्मिन्तोः त्वं मनोपानिमर्षं ' आर्षां ' प्रथमां लोकं लोकेश्वरं चागान्नीन, तथा चोक्तम्—' राजानं तृणतुन्मभं च सजुते
 अं चर्षय नैता इरः, तितोपांतेनरक्षणव्यगकृन्ताः प्राप्नोति नो चंयनाः । संसारान्तरावर्त्सपीठ लभते अं
 मु-हादिर्भयः, सन्तोपाःपुरुषोऽभुनात्नसनिगथायात्सुरेन्द्राचितः ॥ १ ॥ ' इत्यादि ॥ ४२ ॥

तदेवमार्द्रं रुहमारं निराकृतगोशालकाजीवरुचौद्रमतगभिसमीक्ष्य साम्प्रतं द्विजातयः प्रोचुस्तद्यथा—भो आर्द्रकहुमार !
 नोभनमकारि भगता यदेते वेदबाले द्वे अपि मते निरस्ते, तत्साम्प्रतमेतदप्यार्हतं वेदघालमेवातस्त्वदपि नाश्रयणाहिं
 माद्विधानां, तथाहि—भगान् क्षनियः, क्षनियानां च सर्वानर्णोत्तमा ब्राह्मणा एवोपास्याः, न शूद्राः, अतो यागादिविधिना
 नाश्रयणस्यैव युक्तिमतीत्येतत्पतिपादयन्नाह—

सिणायगणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णि[यए]तिए साहणाणं ।

ते पुन्नखंधं सुमहऽज्जणित्ता, भवंति देवा इति वेयवाओ ॥ ४३ ॥

व्याख्या—एद् रुमर्माभिरताः वेदाध्यापकाः शौचाचारपरतया नित्यस्नायिनो ब्रह्मचारिणो द्विजाः स्नातका उच्यन्ते,
 तेषां निन्धं मदसद्भ्यं ये भोजयेयुः कामिक्राहारेण, ते समुपाङ्कितपुण्यस्कन्धाः सन्तो देवाः स्वर्गनिवासिनो भवन्तीत्येनम्भूतो
 वेदराद इति गार्थः ॥ ४३ ॥ अथार्द्रक एतद्द्रूपयितुमाह—

सिणायगणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णि[यए]तिए कुलालयाणं ।

से गच्छति लोलुयसंपगाढे, तिवाहितार्थी णरगाभिसेवी ॥ ४४ ॥

व्याख्या—स्नातकानां सहस्रद्वयमपि निन्धं ये भोजयन्ति, किम्भूतानां ? 'कुलालयाः' मार्जारास्तत्सदृशाः द्विजाः—
 उतव्याः, यतः—साग्नाहारयाञ्छया सर्वादा सर्वगृहेषु मार्जारा इव भ्रमन्ति, एवंविधानां निन्धजीविकाजीवनानां सहस्र-

दुःखो भोजनेऽप्यस्य निश्चितदानस्तेः स्नातकैर्ब्राह्मिणैः सह नरकं बहुवेदने [गच्छति] एतावता त्रयस्त्रिंशत्सागरायु-
नां सो ज्ञापते इति गार्थः ॥ ४४ ॥ अपि च—

दयावरं धम्म दुग्ंछमाणे, वहावहं धम्म पसंसमाणे ।

एगंपि जे भोजयति असीलं, निवो णिसं जाति कओऽसुरेहिं ? ॥ ४५ ॥

व्याख्या—[दयाया नर]दयार घर्मं 'जुगुप्समानो' निन्दन् तथा 'वपात्मकं' प्राण्युपमर्दात्मकं घर्मं प्रशंसन् एकमपि
'अनीलं' निरतिरहितं पट्टकायोपमर्देन यो भोजयेत्, एरुमपि, किम्पुनः प्रभूतान् ? 'नृपो' राजाऽन्यो वा यः कश्चिन्मूढमति-
र्धर्मिणमात्मानं मन्यमानः, स नराको निशेव नित्यान्धकारत्वान्निशा-नरकभूमिस्तां याति, कुतस्त्वस्यासुरेण्वप्यधमदेवेषु
प्राप्तिरिति गार्थः ॥ ४५ ॥

नंदामाद्रकुमार निराकृतत्राणवदं भगवदन्तिकं गच्छन्तं दृष्ट्वा एरुदण्डिनोऽन्तराल एवोचुस्तद्यथा—भो आर्द्रककुमार !
जोमनं कृतं भगना, यदेने मर्त्तारम्भप्रवृत्ता गृहस्थाः शब्दादिविषयपरायणा मांमाशिनो राक्षसकल्पा द्विजावयो निराकृताः,
माभ्यनगस्मत्सिद्धान्तं शृणु, श्रुत्वा चावधारय, अस्मत्सिद्धान्तमत्रत्सिद्धान्तयोर्न कोऽपि भेदोऽस्ति, इत्येतदर्थंथितुमाह—

दुहओ वि धम्मंमि समुट्टियामो, अरिंस सुठिच्चा तह एसकालं ।

आचारसीले बुइएऽह णाणे, ण संपरायम्मि विसेसमत्थि ॥ ४६ ॥

जननेनापि कान्तेनेरुम्यापि प्रदंशस्य व्ययामावात्, तथा सर्वेष्वपि भूतेषु कायाकारपरिणतेषु प्रतिशरीरं ' सर्वतः ' नामन्वपान्त्रिरंशन्वाद्मागान्मा मर्यागति, क्रिमि[? कश्च] ' चन्द्र इव ' शशीव, ताराभिरश्विन्यादिभिर्नक्षत्रैर्यथा ' ममस्वरूपः ' ममपूर्णः ममन्वमृषयान्तेवममत्रग्यात्मा प्रत्येकं शरीरैः मह सम्पूर्णः ममन्वधमृषयाति । तदेवमेकदण्डि-
 भिदंशंनगाम्यापादनेन मामारादपूर्वकं स्वदर्शनारोपगार्थमाद्रेककूमारोऽभिहितो, यत्रैतानि सम्पूर्णानि निरूपचरितानि पुरोक्तानि विज्ञेयगानि चर्मगंगारयोर्विद्यन्ते न एव पश्यः मथुतिकेन ममाश्रयितव्यो भवति, एतानि चास्मदीय एव दर्शने यथोक्तानि गन्ति, नाऽऽर्हन्ते, अतो भवताप्यस्माद्रीयमेव दर्शनमभ्युपगन्तव्यमिति गार्थः ॥ ४७ ॥

अथार्द्रककुमारस्तदुत्तरदानायाह—

एवं ण मिज्जंति न संसरंति, न माहणा खत्तिय वेस पेसा ।

कीडा य पत्रखी य सरीसिवा य, नरा य सधे तह देवलोगा ॥ ४८ ॥

व्याख्या—यदिता प्राक्तनः श्लोकः ' अन्वत्तरूव'मित्यादिको वेदान्तवाद्यात्माऽद्वैतमतेन व्याख्यातव्यस्तथाहि—ते
 पृह्मेराग्यन्तं पुरुषपात्मानं महान्तमाकाशमिमा सर्वव्यापिनं मनातन[मनन्त]मश्रयमव्ययं सर्वेष्वपि भूतेषु ' सर्वतः ' नामान्तयाऽग्नौ स्थित इत्येवमभ्युपगतवन्तो, यथा मर्माभ्यपि तारास्वेक एव चन्द्रः सम्मन्वमृषयात्येवममानपीति, अस्म
 चोत्तरदानायाह—'एव'मित्यादि—यथा भवता दर्शने एरुान्तेनैव नित्योऽविकारी चात्माऽभ्युपगम्यते इत्येवं पदार्थाः

सर्वेऽपि नित्यास्तथा च मति कृतो चन्धमोश्चमद्भावः ? वन्वाभावाच्च न नारकतिर्यङ्हनरामरलक्षणश्चतुर्गतिकः संसारो,
 मोक्षाभावाच्च निरर्थकं व्रतप्रहणं भवतां पञ्चरात्रोपदिष्टयमनियमप्रतिपत्तिश्च, एवं च यदृच्यते भवता-यथा 'आत्रयोस्तुल्यो
 धर्म' इति तदप्रकृतं, यतो न कथञ्चिदात्रयोः साम्यं, किञ्च-सर्वव्यापित्वे सत्यात्मनो विकारित्वे चात्माद्धैते चाभ्यु-
 पगम्यमाने नरकतिर्यङ्हनरामरभेदेन बालकृमारसुमगदुर्भगाल्ब्यदरिद्रादिभेदेन वा न मीयेरन्-न परिच्छिद्येरन्, नापि स्व-
 र्मप्रेरिता नानागतिषु संपरन्ति, सर्वव्यापित्वादेकत्वाद्वा, तथा न ब्राह्मणा न क्षत्रिया न वैश्या न प्रेक्ष्या न शूद्रा नापि
 लीट्यशिमरीसुमाश्च भवेयुः, तथा नराश्च सर्वेऽपि देवलोकाश्चेत्येवं नानागतिभेदेन न भिद्येरन्, अतो न सर्वव्याप्यात्मा
 तथा नाप्यात्माऽद्वैतत्वादो ज्यायान्, यतः प्रत्येकं सुखदुःखानुभवः समुपलभ्यते, तथा शरीरत्वकुर्यन्तमात्र एवात्मा, तत्रैव
 दुर्णविज्ञानोपलब्धेरिति स्थितं, तदेवं व्यक्तस्थिते युष्मदागमो यथार्थाभिधायी न भवति, अमर्षज्ञप्रणवित्त्वाद्, अमर्षज्ञ-
 णीतत्वं चैकान्तपञ्चसमाश्रयणादिति ॥ ४८ ॥ एतममर्षज्ञस्य मार्गोद्भावने दोषमाविर्भावयन्नाह—

लोयं अजाणिंतिह केवलेणं, कंहंति जे धम्ममजाणसाणा ।

णासंति अप्पाण परं च नट्टा, संसारघोरस्मि अणोरपारे ॥ ४९ ॥

व्याख्या—लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं चराचरं वा लोकमज्ञात्वा 'केवलेन' दिव्यज्ञानावभासेन 'इह' अस्मिन्
 जगति ये तीर्थिका 'अजानाना' अविदांसो धर्मं दुर्गतिगमनमार्गगलाभूतं 'कथयन्ति' प्रतिपादयन्ति ते मन्वते

रगनपि नाशयन्ति, क ? 'द्योरे' मथानके संसारमागरे 'अजोरपारे' अर्वाग्मागपरमागविवर्जिते अनाद्यनन्ते, इन्द्रेणभूते संसागर्गने आन्मानं प्रश्चिपन्तीति गाथार्थः ॥ ४९ ॥

माभ्या नभ्यगूतानयनापुरदृग्गां गुणानाविर्भावयन्नाह—

लोक्यं विजाणंतिह केवल्लेणं, पुन्नेण नाणेण समाहिजुत्ता ।

धम्मं समत्तं च कहंति जे उ, तारंति अप्पाण परं च तिण्णा ॥ ५० ॥

व्याख्या—लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं केवल्लोकेन केवल्लिनो विविध-मनेकप्रकारं जानन्ति, इह जगति प्रकर्षण जानापि प्तः पुण्यदेतुत्यादा पृण्यं, तेन तथाभूनेन ज्ञानेन समाधिना च युक्ताः समस्तं वम्मं श्रुतचारित्ररूपं ये तु परहितपिणः 'रूपयन्ति' प्रनिपादयन्ति ने महापुरुषाः स्वतः संसारसागर तीर्णाः परं च तारयन्ति सदृषदेशदानत इति, यथादेशकः -मभ्यगूतागो आन्मानं पर च तदृषदेशप्रतिनं महाकान्ताराद्विचक्षितदेशप्रापणेन निस्त्वारयति, एवं केवल्लिनोऽप्यात्मानं पर च समागहानागान्निभ्यनयन्तीनि गाथार्थः ॥ ५० ॥ पुनरप्यार्द्रकुमार एवमाह—

जे गरहियं ठाणमिहावसंति, जे यावि लोए चरणोववेया ।

उदाहडं तं तु समं मनीए, अहाउसो विप्परियासमेव ॥ ५१ ॥

व्याख्या—अर्वाग्मागपरमागविवर्जिते अनाद्यनन्ते, तद्यथा-ये केचित्संसारान्तर्वर्तिनोऽशुभकर्मणोपपेताः-समन्विताः 'गर्हितं'

संरक्षणेति य मंगसंगं, यणं ह्यंता अणिअत्तदोसा ।

मेसाण नीराण चहेण त्थमा, गिया म अंनं गिदिणो वि तम्हा ॥ ५३ ॥

आर ग—सं.पं.सं.कं. गणिनं म-ने.स्य गणानिपानादनप्र-दोषात्त्वे वचस्वि, यत्तावता धर्मयुक्त्या दोष-
निवृत्तये. गणिन गणानि गणित्वे चक्ष्यते, आभंगादोषय वतां य-सिद्धमपह्नाकामयवयवपरमाणाना-
मनिरूपे वति, यत्तु य-सिद्धमपह्नाकामयवयवपरमाणानां मणित्वे जस्यतां क्रियमासिद्धयेव-
[सिद्ध] माहात्म्येण्यत आगत्यनयमान-तेन ह्य आभंगादोषः ? गणित्वाकाराभ्यासात्तौ वा ? तथा (यदि)
सोऽकाराभ्यासात् । दोषान्तेऽप्युपपत्तये तदा मुद्रया अथ गणित्वाकाराभ्यासात् कृत्वः सक्षेपे आरम्भं कृतवित्ति,
न पर आत्, तेनैव सोऽतीतराकाराभ्यासात्तौ नन्दनं श्रेयस्वत्त्वात् (इतानां श्रवणाय यद्विज्ञेयस्य निर्देयात्वं, संप्र-
ति) राकाराभ्यासात्, तदन्तेऽपि म-सिद्धमपह्नाकामयवयवपरमाणानां मुद्रया अथ दोषाद्विना य-सिद्धमपह्नाकामयवयवपरमाणानां ॥ ५३ ॥

माहात्म्येण्यत आगत्यनयमान-तेन ह्य आभंगादोषः ? गणित्वाकाराभ्यासात्तौ वा ? तथा (यदि)

संरक्षणेति य मंगसंगं, यणं तदंता गणमावयेत् ।

आयादिते मे पुरिते अणजे, नो तारिसे केरळिणो भंति ॥ ५४ ॥

आर ग—नो दक्षिणावपणः । म-स्यते अणजते आस्थिणा मन्ता प्र-दोषं संसारादेणानि ये मन्ति ये नोपदिशन्ति

ने अनाय्या, अगत्कर्मगानुष्ठापित्यात्, तथा आत्मनः परेषां चाहितास्ते पुरुषाः केवलिनो न भवन्ति, तथा एरुस्य प्राणिनः
 संतत्सरेणापि घाने येऽन्ये पिशिताश्रितास्तत्संस्कारे च क्रियमाणे स्यान्तरजङ्गमा विनश्यन्ति ते तैः प्राणिबातोपदेशकैर्न दृष्टा,
 न च तेनिर्गयोपायो मायूरुर्गा वुत्त्या यो भवति स दृष्टः, अतस्ते न केवलमकेवलिनो विशिष्टनिवेशकरहिताश्चेति । तदेवं
 हस्तितापमान्निराकृत्य भागदन्तिकं गच्छन्तमार्द्रकूपारं महता कलकलेन लोकेनाभिष्टूयमानं तं समुपलभ्याभिनवगृहीतः
 मालभ्यगमम्पूर्णो वनहस्ती समुत्पन्नतयापिनिवेशोऽचिन्तयत्, यथा-अपमार्द्रकूपारोऽराकृताशेषतीर्थिको निष्प्रत्यूहं
 मर्जपादपमान्तिकं तन्दनाय व्रजति, ततोऽहमपि यद्यपगतशेषवन्धनः स्यां तत एनं महापुलहपार्द्रकूपार प्रबुद्धतस्कारपञ्च-
 ननोपेनं तथा प्रयोधिनानेकादिगणसमन्वितं परमया यच्चैतदन्तिकं गत्वा वन्दामीत्येन यावदसौ हस्ती कृतसङ्कल्प-
 स्तारत्नटन्न(टदितितु)टिनममस्वमन्धनः सन्नार्द्रकूपार प्रति पदचरुर्णनालस्तथोद्धेप्रसारितदीर्घकरः प्रधानितः, तदनन्तरं
 लोकेन कृतहाहारगमकलकलेन पूरकृतं, यथा-धिकष्टं ! हतोऽपमार्द्रकूपारो महर्षिमंशपुलहस्तदेवं प्रलयन्तो लोका इत्यथे-
 तन्न प्रपलानाः, अपायपि वनहस्ती समागत्यार्द्रकूपारमभीप भक्तिमभ्रमाननतायता(प्रमा)गोत्तमाङ्गो निभृतकूर्ण-
 तालमिःप्रदविणीकृत्य निहितधरणीतलदन्ताप्रभागः स्पष्टकरागतच्चरणयुगलः सुप्रणिहितमनाः प्रणिपत्य महर्षि वना-
 भिमुसं ययातिनि । तदेवमार्द्रकूपारतपोऽनुभावान्दन्धनान्मुक्तं महागजमुपलभ्य मपौरजनपदः श्रेणिकराजस्तमार्द्र-
 कूपार महर्षिं तत्तपःप्रमाणं चाभिनन्द्य अभियन्ध च प्रोवाच-गगान् ! आश्चर्यमिदं यदसौ वनहस्ती तादृगिगधाच्छसो-
 ष्ठेयान्दृष्ट्वावन्धनानुष्मत्तपःप्रभावान्मुक्त इत्येतदतिदुष्करमित्येवमभिहिते आर्द्रकूपारः प्रत्याह-भो श्रेणिकमहाराज !

नारायणं गदनी तनइस्नी वग्नानाम्पुक्त, अपि त्पेनद्रुद्धरं पत्सनेहपाशमोचनं । एतच्च प्रागिनयुक्तिगाथया दक्षितम्, सा चैयं-
 " न सुद्धरं वा णरयाममोगणं, गयस्स मत्तस्स वणंसि रायं । जहा उ वत्तावल्लिण तंतुणा, सुद्धरं मे
 पत्तिडाड सोपणं ॥ १ ॥ " एवमाद्रं कुरासो राज्ञानं प्रतिबोध्य भगवदन्तिकं गत्वाऽभिवन्ध्य च भगवन्त्वं भक्तिभरनिर्भर
 यागान्तं । भगरानपि तानि पञ्चापि जनानि प्रयाज्य तच्छिष्यत्वेनोपनिन्द्ये इति गाथार्थः ॥ ५४ ॥

गाथयां भगवन्ताव्ययनोपमं द्वायार्थमाह—

बुद्धस्स आणाइ इमं समाहिं, अस्सि सुठिच्चा तिन्निहेण ताई ।
 तरिउं समुद्धं च महाभक्तेषं, आयाण वंधं समुदाहरिज्जा ति वेमि ॥ ५५ ॥

अद्दइज्जं छट्ठं अड्डयणं समत्तं ।

व्याख्या— ' बुद्ध ' अरण्यतत्राः सर्वज्ञो बद्धपानस्यामी, तस्याजया-तरागमेनेमं ममाधि सद्धर्मावासिलक्षणमवाप्या-
 धिमथ गमागो सुल्लु स्थिन्या मनोराहापेथ प्रगिहितेन्द्रियः म एवम्भूतः आत्मनः परेषा च ' त्रायी ' त्राणशीलस्तायी वा
 + " न इत्थमेव पत्तयेत्तदगवयारणस्य विगोचनं वने राजन् ! । एतत्तु मे प्रतिभाति दुद्धरं यथ तत्रावल्लितेन तन्तुना

गमनशीलो मोक्षं प्रति, न एवम्भूतस्वारीतुमतिस्तुय समुद्रमिन्द्रस्तुतं महाभनौषं मोक्षार्थमादीयत इत्यादानं-सम्यग्दर्शन-
 ज्ञानचारिरूपं, तद्विद्यते यस्यासायादानवान् माधुः, म च सम्यग्दर्शनेन सता परतीर्थिकृतपस्ससृद्धिदर्शनेन मौनीन्द्रदर्शनान्न
 पन्त्याते, सम्यग्ज्ञानेन तु यथाप्रस्थितास्तुप्ररूपणतः समस्तप्रावाङ्मुक्तादनिराकरणेनापरेषां यथाप्रस्थितमोक्षमार्गमाविर्भा-
 तयतीति, सम्यग्चारिणेण तु मनस्तभूतगामहितैषितया निरुन्नाश्रवद्वारः संस्तपोविशेषाचानेकभत्रोपाजितं कर्म निर्जरयति
 सागोऽन्वेषां चैनं प्रकारमेव धर्ममुदाहरेद्व्यागृणीयादात्रिभनियेदित्यर्थः ॥ ५५ ॥ इतिः परिसमाप्त्यर्थे, त्रयीमीति पूर्ववत् ।

इति श्रीपरमसुनिहितस्वतारगच्छविभूषणपाठरुप्रवरश्रीमत्साधुरङ्गगणिमन्दब्धयां श्रीसूत्रकृताङ्गदीपिकायां

समाप्तश्चेदमार्द्रकुमाराध्ययनं षष्ठमिति ।

अथ रासगं नालन्दीयाख्यमध्ययनम् ।

— ७५० —

अथानां पण्यभ्ययनं, साधनं सागं नालन्दीयाख्यं नगरस्थले अथ चायमपिगम्यन्थः—

इह दिनीयाङ्के प्राक्तनपु तदिस्थभ्ययनंयु स्वगणपयगमप्ररूपणाङ्कारेण प्रायः साधूनामानासोऽभिहितोऽनेन तु
आह्वयानां विविक्ताने, यदिसाऽन्ताराभ्ययन परादिनिगमरूपं कृत्वा साधुनास्य य उदिष्टा य उदाहरणद्वारेण
वर्तनीतः, इह तु आह्वयभ्ययन य उदरुण य उदाहरणद्वारेण प्रदर्शयते, यदिसाऽन्ताराभ्ययनं परतीर्थिकैः सह वाद
इह तु साधूनीवलयन मध्यन्धेनायाजमिदमभ्ययनं प्रास्थयते, तथाहि—

ने षं काले षं ते षं समण षं रायगिहे नामं नगरे ह्योरथा, रिद्धिस्थिगियरागिद्धे नणणओ
जाय पद्धिन्धे । तस्म षं रायगिहेऽस्म नगरस्य तद्विया उत्तरपुसिद्धमे दिशीभाण, एतथ षं नालंदा-
नामं नादिरिया ह्योरथा, अण्णगभनणरायरांनिगिद्धा जान पद्धिख्या [सू० १]

अथानां—सुणं, नगर नालन्दा इति नाम्ना पाठकालेणः समभूत् ।

तस्य षं नालंदापु नादिरियापु लेने नामं गाह्वाराई ह्योरथा । अथे दित्ते निते जान

+ अपरिभृण् । से णं लेत्रे नामं गाहात्रई समणोवासए आवि होत्था । अभिगयजीवाजीवि
जात्र विहरइ । * [निगंथे पात्रयणे निस्संकिए निक्कंखिए निधित्तिगिच्छे लद्धट्टे गहियट्टे पुच्छियट्टे
विणिच्छियट्टे अभिगहियट्टे अट्ठिमिजापिमाणुरागरत्ते, अयमाउसो ! निगंथे पात्रयणे अयं अट्टे
अयं परमट्टे सेसे अणट्टे, उस्सियफलिहे अप्पात्र(अत्रंगु)यदुवारे चियत्ततेउरप्पवेसे चाउद्दसट्टसु-
द्धिदुण्णमासीणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणे समणे निगंथे तथाविहेणं एसणिज्जेणं
असणपाणत्ताइमसाइमेणं पडिलाभेमाणे बहूहिं सीलवययुणत्रिरमणपच्चक्खाणपोसहोत्रत्तासेहिं
अप्पाणं भात्रेमाणे एत्रं च णं विहरइ ॥ सू० २]

तस्म णं लेत्रस्स गाहात्रइस्स तीए नालंदाए वाहिरियाए उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं

+ ' जात्र ' इत्थत्र " विच्छिन्नविपुल्लप्रमणयणामणजाणयाहणाहण्णे बहुयणत्रहृजातरूत्रत्रते आओगपओगसंपउचे
'च्छिद्रियउरभत्तपाणे नहुदासीदासगोमहिमगंवेलगप्पभूते बहुजणस्म " इति पाठः प्रत्यंतरे ।

* [एतच्चिद्वान्तर्गतः पाठो नास्ति सर्वेऽपि दीपिकादेशेषु ।

आउसो ! सोच्चा निसम्म जाणिस्सामो । सत्रायं उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयंसं एवं वयासी-

व्याख्या—आवृणन् गौतम ! ' अस्ति ' विद्यते मम कश्चित्प्रदेशः—प्रश्नः पृष्टव्यः, तत्र सन्देहात्, तं च प्रदेशं मम यथाभूतं भान्ता यथा च भगवता सन्दर्शितं तथैव मम—' व्यागृणीहि ' प्रतिपादय एव पृष्टः, स चायं भगवान् सत्वाद् वा यो मनगारतीकं वा प्रश्नं पृष्टस्तमुदकं पेढालपुत्रमेवमत्रादीत्तद्यथा—अपि चावृणन्नुदक ! ' श्रुत्वा ' भवदीयं प्रश्नं निजस्य—तास्यार्थं च गुणदोषविचारणतः सम्यगहं ज्ञास्ये । तदुच्यतां विश्रब्धं भवता स्वाभिप्रायः । सत्वादमुद(कः)यः पेढालपुत्रो भगवन्तं गौतममेवमत्रादीत्तद्यथा—

आउसो गोयमा ! अत्थि खलु कुमारपुत्तिया नामं समणा निग्गंथा तुम्हाणं पत्रयणं पत्रयमाणा गाहावत्तिं समणोवासगं उवसंपन्नं एवं पच्चख्खावित्ति-णणत्थ अभिओएणं, गाहावत्ती चोरग्गहणविमोक्खणताए तसेहिं पाणेहिं निहाय दंडं । एवं हं पच्चख्खलायं भवइ । एवं हं पच्चख्खावेमाणाणं दुप्पच्चख्खावियं भवइ । एवं ते परं पच्चख्खावेमाणा अतियरंति सयं पत्तिण्णं, कस्स णं तं हेउं ? ।

व्याख्या—मो गौतम ! अस्तीति-विद्यन्ते सन्ति कुमारपुत्रा नाम निग्नन्था युष्मदीयं प्रवचनं प्रवदन्तस्तद्यथा—गहपति

भवन्ति। आरम्भस्य न्यायस्योन्वितमेवं 'प्रत्याख्यापयन्ति' प्रत्याख्यानं कारयन्ति-स्थूलेषु प्राणिषु 'दण्डं' विनाशं
 विनाशयति। अत्रानिवापयन्ति कुर्यान्ति, एतान्ना स्थूलप्राणानिवापयन्ति कुर्वन्ति, अन्यत्र राजाद्यभियोगेन यः प्राणपु-
 ष्याते न ता निवृत्तिरिति, गतापभियोगं विना स्थूलप्राणिवधनिवृत्तिः परमन्येया स्थूलव्यतिरिक्तानां प्राणिना
 मवधनिवृत्त्यो शेषः स्यात् । एतान्ना अत्राप्राणिवधनिवृत्तौ कृतायामन्येयां प्राणिनामनुमतिदोषो लगतीति भावः,
 एतान्ना[द्राणानाः]ना ज्ञाना प्राड—

['माः प्राड' इत्यादि,] यस्य चार्थवृत्तत्राविर्भाविष्यामः—प्रेम्रे कथयिष्यामः । 'एवं ह' मित्यादि, एवमेव अत्र-
 यानिवापय[त्]रनापयमभूत्परिजोगगर्हण-नेन प्रत्याख्यानं गृह्णतां श्रावकाणा दृष्टप्रत्याख्यातं भवति, प्रत्याख्यान-
 नाशद्राणान्, प्रत्याख्यापयितामपि माधुनां दृष्टं प्रत्याख्यानदानं भवति, किमिति ? अत आह—एवं ते माधवः प्रत्या-
 ख्यानं ज्ञायन्तः श्रावकाश्च प्रत्याख्यानं गृह्णन्तः स्यां प्रतिज्ञामतिचरन्ति-अतिलक्ष्यन्ति, एवं कुर्वतामेवं च कारयतां
 प्रत्याख्यानं भवत्यो । 'रुस्स णं नं हंडं' केन कारणेन प्रतिज्ञामतिचरन्ति-प्रतिज्ञाभङ्गो भवति ? उद(क)य उवाच—

संभारिया खलु पाणा, आत्ररा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसा वि पाणा थावरत्ताए
 पच्चायंति, आरकायाओ विष्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति तसकायाओ विष्पमुच्चमाणा
 आरकायंसि उववज्जंति । तेसि च णं थावरकायंसि उववज्जाणं ठाणमेयं घत्तं । [सू० ४]

'भाष्या'—साम्प्रतिकः सत् 'पाण' अन्ताः स्थापराभ पञ्चानि पाणिनः सन्तोऽपि तथापि कर्णोद्गा-पगतय '

 मतेन ' पर्यायानि ' उदाहन्ते, तथा यथा अपि स्थापराभयोस्त्यन्ते, एवं च परस्परमपने व्यास्थिते सत्यवत्तयम्भायी

 र्णान्मिन्त्रोपस्थादि-नापरिको मया न हनन्वय एवम्भूता पतिता येन मुनीना म यदा बहिरासामादौ व्यास्थितं नापरिकं

 'यामारथे' किन्मेवाता तस्य न भोत्वप्रित्तालोः । एवमपि येन मया भगिनित्तिः कृता स यदा तयो असं प्राणिनं स्थापरा-

 क्षापिनिं नामारथे किं तस्य न भोत्वप्रित्तामङ्कः । अपि तु भाट्टोयेत्यर्थः । एवमपि स्थापराभये समुत्पन्नानां यसानां

 यद नमाभून् किञ्चिदभाषणं किञ्च स्यात्तसो यथाः स्थापराट्टोऽप्युत्पन्नाः अक्षयन्ते परिकर्ष्यं, न च तदस्तीत्येतदर्थ-

 निपातः- 'भाररक्षायाञ्चो' इत्यादि, स्थापराभयात्प्रमुञ्चमानाः—स्थापराभयाथुवा प्रिप्रमुक्तास्त(द्योग्यैश्च) अपरैः

 कर्मणः गर्भान्नाम मङ्काने समुदाहन्ते, तथा मङ्कानादपि गर्भाना म्प्रमुञ्चमानाः (तत्कर्म्मिणि) स्थापराभये समुत्प-

 न्तं, न च चोक्तानां तथायुत्तमत्किञ्चन्यामाहप्रित्तालोप इत्येतत्प्रयोगे वर्धयति ' तसि च ण ' मित्यादि, तेषां—यसानां

 स्थापराभये मन्त्रानां मुनीनामप्यातिमानिरोः आरुहस्याप्यारम्भमप्युत्तलेनेतरासा[स्मात्पा]ब्धं यानं घातं भवति,

 यः स्थापराभ्यादनिमुक्तम स्वासेत्यनं घातयति, एवं कृतमप्यारुह्यानस्य आरुहस्य प्रतिज्ञामङ्कः स्यात् ।

एवं षट् पचस्रसंताणं सुष्वचारायं भाइ, एवं षट् पचस्रस्रानेगणानां सुष्वचरस्रानिचं भवइ,

 एवं ते परं पचस्रस्योमाणा नाइमरंति सयं पइत्तं ॥

"गान्ध्या—नामस्मिहत्यानेन यममेव स्थापितोनामानं व्यापार्यतोऽऽयं प्रतिज्ञागतः, यमस्य एव महत्कथा
 प्रथमा हिन्दा प्रत्याख्यान हीनां सुप्रत्याख्या भावि । एतेषु च प्रत्याख्यायां सुप्रत्याख्यातं भावि, एते च
 प्रत्याख्यानं तेषाः साधन्यय नाशनि सन्ति स्वीयां प्रतिज्ञाभिन्नेनदर्शयितुमाह—

ननुतश्च अभिओंगेणं गाहादृचोरगमहणत्रिमोखलणयाण् तसभूतेहिं पाणेहिं निहाय दंडं,
 एतेषां गः भागाण् परहमे विज्जमाणे जे ते कोहा वा लोहा वा परं पञ्चसखात्रिति अयंपि नो
 उपायं मे हिं णेयाउण् भानि? अगियाइं आउतो गोयसा ! तुब्भंसंपि एं रोयति? । [सू० ५]

व्याख्या—एव गृह्णति: प्रत्याख्याननें गृह्णति, तयथा—यमभूतेषु सर्वमानसाले गतोनोत्पन्नेषु ' दण्डः ' प्राण्य-
 त्तरेव्यत्राशय-सन्धियय प्रत्याख्यानं कसेति, तदिह भूतत्तानिपणास्सास्यर्षीयापञ्चाभेदपि न प्रत्याख्यानपञ्चा,
 गृह्णति। योगसिधेयतन्त्येन, एतदपि एकमेव मस्यगुक्तं, तदेतदपि यमस्यै भूतत्तानिपणमभ्युपगम्यतां, एतदभ्युप-
 गमंदि तथा नीर्गत्तान्याख्यायित्तो दधिभक्षणेदपि न पतिनाल्लिपस्तथा उपभूताः मरता न हन्तक्या इत्येयं प्रतिज्ञातः
 व्यासद्विपाणमपि न प्रत्याख्यानानिचारः, तदं विगमाने मति ' भाषायाः ' प्रत्याख्यानतानः ' पराकृते ' भूत-
 त्रिपिपादापारिदारयावर्धे एं एतिका नीत्या मति दोषपरिहरणोपाये ये केचन क्रोधाद्वा लोभाद्वा ' परं ' आत्मादिकं
 प्रत्याख्याननिगमये प्रत्याख्यायपन्ति नेपाये प्रत्याख्यानं द्दत्तां मुतापारे भवति मुहतां चाइय भारी त्तलोप इति,

नेदरस्यसर्पा 'नः' अस्मदीयोपदेनास्पृशस्यो भूतन्प्रतिशेषणविशिष्टः पशुः किं मरुतां नेत्र 'नेत्रायिक्षो' न्यायोपपन्नो
 मरुति इदमृक्तं मरुति भूतन्प्रतिशेषणेन द्विस्थायिशेषणेन द्विस्थायिशेषणं द्विस्थायिशेषणं द्विस्थायिशेषणं द्विस्थायिशेषणं
 नस्यसर्पा गौतम एतेनयथा एतेनयथा एतेनयथा एतेनयथा एतेनयथा एतेनयथा एतेनयथा एतेनयथा एतेनयथा एतेनयथा एतेनयथा
 भागमसाशेनयथा—

मरुतयं भगवं गौतमे उदयं पेढाल्लपुत्रं एवं चयासी-आउमंनो ! उदगा ! नो खलु अस्दं एवं
 एवं रोगनि, ने ने ममणा वा साहणा वा एवसाहक्यंति ज्ञात्र पद्धिंति, नो खलु ने ममणा वा
 निगंथा वा भागं सामंति, अणुतात्रियं खलु ने भागं सामंति ।

—पाठ्या - आगमन उदक ! नो खलु अस्मरुपंनदयं, यद्यथा न्ययोच्यते, तदोच्यते, इदमृक्तं मरुति-यदिदं अम-
 मरुतस्यो भूतन्प्रतिशेषणं द्विस्थायिशेषणं न रोगनि इति । तदेवं व्यतिथ्येते सो उदक ! ये ते अमणा
 वा साहणा वा एवं भूतन्प्रतिशेषणं प्रत्याख्यातमाच्यते, परः पृष्टास्तेष्वय वापन्ते प्रत्याख्यातं सतः क्वचित्त-
 स्त-पर्यायान्प्रतिशेषणं प्रत्याख्यातं वापन्ते, परंसेय मापान्येन प्रत्ययन्तो न खलु ने अमणा वा निग्रंथा वा
 मरुतां वापानो, अपि तु अचुनापि सा वापान्ते, अन्यथाप्रत्ययं श्रोतुरचुनापो मरुति, नेनाचुनापिकेदप्युच्यते ।
 नेना पुनरपि नेना प्रतिशेषणप्रत्याख्यातमासृत्तण(प्रकट)दोषपाद—

अवभाउम्बन्ति खलु ने समणे समणोवासए वा, जेहिं वि अन्नोहिं पाणेहिं भूतेहिं जीवेहिं ननेदिं संजमयंति, ताण वि ते अवभाइक्खंति, कस्स णं तं हेउं ? ।

अध्याख्या—नेदिं मणिदोषगप्रत्याख्यानदिनो यथानस्थितप्रत्याख्यानं ददतः साधून् गृह्णतश्च श्रावकान् ' अभ्या-
 नानि ' यथादोषोऽपाननोऽभ्याख्यानं ददति । किञ्चान्यन्-येष्वप्यन्येषु पाणिषु भूतेषु जीवेषु सत्त्वेषु ये ' संयमयन्ति '
 समणे इति, तस्या—ज्ञायगो न मया हन्तव्य इत्युक्ते म यदा वर्णान्तरे तिर्यक्षु वा व्यवस्थितस्तदा तद्वधे ब्राह्मणवध
 नायगो भूगव्दशानेयगत, एत ते भूगव्दशानेयगतानोऽन्यान् ' अभ्याखयन्ति ' दूषयन्ति । ' कस्स णं तं हेउं '
 कस्मान्नोऽस्मिन्मदभूत्त दूषण भवति ? यस्मात्—

संसारिया खलु पाणा, तमा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति,
 नमकायाओ विष्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उव्वज्जंति, थावरकायाओ विष्पमुच्चमाणा तसकायंसि
 उव्वज्जंति, तेमि च णं तसकायंसि उव्वव्वजाणं ठाणमेयं अघत्तं । [सू० ६]

अध्याख्या—मागारिकाः खलु प्राणाः परस्परं जातिमङ्गमणभजो भवन्ति, यतस्त्रमाः प्राणाः स्थावरत्वेन प्रत्यायान्ति
 स्थावराण्य पगन्तेनेनि, त्रमकायाश्च मर्चामना त्रसायुक्कं परित्यज्य स्थावरकाये तद्योग्यकर्मोपादानादुत्पद्यन्ते तथा-
 स्थावरकायाच तदायुक्कादिना कर्मणा विमुच्यमानास्त्रमकाये समुत्पद्यन्ते, तेषां च स्थावर[त्रस]काये समुत्पन्नानां स्थान-

भेदान्तरमहापाठ्यमपाठ्यं-न पातार्हं भवति, यस्मात्तेन श्रावणेन नमानुद्धिश्य प्रत्याख्यानं कृतमस्ति, तस्य तीव्राक्षयामायो-
 न्धाररुपाण्डोरुर्गादिनाञ्चेति, तामसौ स्वरुपाणातिपातानिदृत्तस्तन्नितुत्या च तसस्थानमवात्यं प्रार्त्तने, स्थापरेष्वारित
 इति, ननोभयाया तन्मनान घात्यमिति । स्वधाररुपाये समुत्पन्नस्य पर्यायान्तरमापन्नस्य स्थानरुपायाद्येऽपि
 रूपं न लभति, न पत्त्याख्यानभङ्ग इति । तदेवं स भादभिप्रायेण निशिष्टग्रहोद्देशेनापि प्राणातिपातनिवृत्तौ क्रुत्वायामपर-
 पर्यायापन पालेन व्यायादयतो न्नायज्ञो भवति, ततश्च न रुस्यानित्यमगम् ब्रतपालनं स्यात् इति । एवमग्याख्यानमभूत-
 शोभोऽपानं भवन्नो रदन्ति । यद्यपि गार्हपितृमानरुक्षिशोभत्वेन क्लिष्टायं भुक्तशब्द उपादीयतेऽप्यपि व्यायोहाय-
 क्तानं श्रान्तिरोगं, तथाहि-भुक्तशब्दोऽयमपमानेऽपि वर्त्तते, तथाथा देवालोक्तभूतं नगरमिदं, न देवालोक्त इति, तथाऽत्रापि
 तमभूताना-यमग्याख्यानामेव पाणिनां पागानिपातनिरुत्तिः कृता स्यात्, न तु नसानामिति । अथा तादृशैर्भुक्तशब्दोऽयं,
 इया शीर्षभुक्तशब्दोऽयमिदं, एतं मभूतासायत्त प्राप्ताः, तथा च मति नयनशब्देन भवार्थश्चात्पीनरुक्तं स्यात् ।
 यथापाप इति । भुक्तशब्दोपादानं कियते तन्निरयंरुपातिप्रसङ्गः स्यात् । तदेवं निरस्ते भुक्तशब्दे गति उदक आह—

मवायं उदकं पेडालपुत्ते भयवं गोयमं एवं वदासी-कयरे खलु ते आउलंनो गोगमा ! तुब्भे
 ययह तमा पाणा तमा अह अन्नहा ? सत्रायं भगवं गोयमे उदयं पेडालपुत्तं एवं वयासी-आउ-
 संनो उदगा ! जे तुब्भे वयह तसभूना पाणा तसा ते वयं वदामो तसा पाणा, जे वयं वदामो

नमो वाणा नो मन्त्रे नमश्च तमभूया वाणा, एते संधि द्वे ठाणा वृत्ता ष्मद्वा, किमाउसो ! इमे
मे (वाणा) मृगशीतनमण् भवति-तमभूया वाणा [नमो], इमे मे हृद्वणीतनमण् भवति-तमो
वाणा [नमो], नमो म्ममाउसो ! पञ्चिभोराह ष्मं अभिजं द्रुह, अयंति संदे से णो णेयाउण् भवति ।

- वाणा ' ममाम ' शिवादि, मदां माद वा उदकः-पेडाउण्मे भवानं भोतणोराभादीय, तमो-हे वाण-
वा भोतः । हामन भगिनो यं देव । वाण एव वाणाः-वाणिजस । एव वाणा आणा-उ मन्त्रेण्येण्येण ष्मं भगवान्
मी मन्त्रमः ष्मं अण् एवभादी । वाण् भगिनो यं बदव वाण्वायएरे-भादिभूताः भगिनो,
वाणाः वाणिजः, किं पण्मानका ५ एव वाणाः वाणा इति, वांन एव पदवाण्वाः-वमरां आणास्वहमल विंन एव
वाणाः वाणाः ' देव मन्त्र ' शिवादि, वाण् एव ' देवमन्त्रमा एव आणामणाः मन्त्रस्वान् यूपणे वदश्च-वमभूवा एव वाणाः,
वा ' वाणिजं शिवायुवान् । कदाकणं पञ्चः शूद्र ' शणिवरो ' पञ्चिपुक्तः प्रविभायो । तवा चण एव वाणारणाः
वाण् एवो देवशीतनो ' भवति ' प्रविभायो भवति । तमया-वमभूताः आणारणाः, वमः आणारणाः, कोसं येदः ।
वाणिजता, कदाविन्देन भवति कोसं व्यापेते । तेन अन्देदेवामभिरम ष्मं पञ्चमाकोशम किरीयं चमिनन्दश्च
वाण् एवो वाण्णं मलकण् पण्माकोशमपस्वादिनन्द-भित्पण् देवाभ्युपमणे भवति नो देवार्थको-च-वामो-
वाण् वरुं, वाण्णं पण्णः मन्त्राण्, केवलं पञ्चिपुक्तये पूत्रा-रोपासनं षोदमाद शिनि । पुनं पुं कं मत्ता-

रगानां रथनिवृत्तौ ऋरितायां माधोरनुमतिदोषः स्थावरप्राणिविषयो लगति, भूतशब्दाकथनेऽनन्तरमेव त्रसं स्थावरपर्यायापन्नं व्यापादयतो व्रतमङ्ग इत्येतदपि न किञ्चित्, तत्परिहर्तुंकाम आह—

भगवं च णं उदाहु—संतेगतिया मणूसा भवंति, तेसिं च णं एवं बुत्तपुवं भवति—नो खलु वयं संचाएमो सुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पवइत्तए, वयं ष्हं अणुपुव्वेणं गोत्तस्स लिसि-
स्सामो, ते एवं संखं सावेंति ते एवं संखं ठवयंति, नन्नत्थ अभिओएणं ।

व्याख्या—भगवान् गौतमस्वामी पुनराह—सन्त्येके केचन लघुरुम्मणिो मनुष्याः प्रवज्याः कर्तुमममर्थाः प्रवज्यां िना धर्मं नितीर्णाः साधोर्धम्मोपदेशदानोद्यतस्याग्रत इदमुक्तपूर्वं भवति, तथाहि—भोः साधो ! न खलु वयं शक्नुमो गुण्डा गतितु-प्रवज्यां गृहीतुं अगारादनगारतां—माधुभानं प्रतिपत्तुं, वयं त्वाऽनुपूर्व्येण—क्रमशो ' गोत्रं ' माधुत्वं, तस्य माधुभारस्य ' पयणिण ' परिपाटयात्मानमनु श्लेषयिष्यामः । इदमुक्तं भवति—पूर्वं देशधिरतिरूपं श्रानरुधर्मं अनुपालया-
मस्ततोऽनुक्रमेण पञ्चाच्छ्रमणधर्ममिति । तत एतं ते ' संख्यां ' व्यवस्थां आयन्ति । एवं व्यवस्थां प्रत्याख्यानं कुर्वन्तः ' स्थापयन्ति ' प्रकाशयन्ति नान्यत्र अभियोगेन, स च " राधाभिओगो गणाभिओगो देवयाभिओगो बलाभि-
ओगो गुरुनिगदो " इत्येवमादिनाऽभियोगेन व्यापादयतोऽपि त्रसं न व्रतमङ्गः । एवं माधुपदेशेन प्रत्याख्यानं कुर्वन्ति ।
गाहावइचोरगहणविमोक्खणताए ।

दशममार्गः—रत्नपुरं नगरे रत्नशेखरो नाम राजा, तेन च परितुष्टेन रत्नमालाऽप्रमहिषी प्रमुखाऽन्तःपुरस्य कौमुदी-
 मदीशो नगरचान्तः श्रेय्यापचारोऽनुगतः । तदवगम्य नागलोकेनापि राजाऽनुमत्या स्वकीयस्य स्त्रीजनस्य तथैव
 द्रोढनमनसं, राजा च नगरे मड्डिमशब्दमाघोषिनं, तस्या -अस्तमनोपरि कौमुदीमहोत्सवे प्रवृत्ते यः कश्चित्पुरुषो
 नगरमदो ग्निः पठन्नुपलब्ध तदा तस्य शरीरनिग्रहं करिष्यामि न केनाप्यस्मिन्नर्थे निश्चिः कार्या नाहं तं मोक्ष्यामि,
 इति श्रयस्विधो मन्त्रेणैव च निजः पट्टुनाः, ते च कौमुदीदिने क्रयविक्रयव्यग्रतया तावत्स्थिताः यावत्सूर्योऽस्तंगतः,
 यत्ननाशं स्थितानि च नगरदाराणि, तेषां च व्यग्रतया न निर्गमनमभूत् । ततस्ते भयमभ्रान्ताः नगरमध्य एवा
 दग्धानं गोपयिता स्थिताः । ततोऽतिरुाने कौमुदीप्रचारे राज्ञाऽऽरक्षकाः समाहूयादिष्टाः, यथा—सम्यग्गिनरूपयत यूयमत्र
 नीमुदीपचारे नगगन्तः कश्चित्पुरुषो व्यनस्थित इति । तैरप्यारक्षकैः सम्यङ् निरूपयद्भिरुपलभ्य पञ्चणिकपुत्रवृत्तान्तो राज्ञे
 निवेदिनः । राजाप्याज्ञाम्, कृपिनेन तेषां पणामपि तद्यः समादिष्टः । ततस्तत्पिता पुत्रवधममारुर्णनगुरुशोकाविह्वलोऽ-
 क्तायानिाकृत्योऽज्ञान्तलोचनः किं कर्तव्यतामूढतयाऽगणितनिधेयधेयनिशेषो राजानमुपस्थितोऽवादीच्च गद्गदया गिरा,
 यथा—मा कृपा देत ! कुलशयमस्माकं, गुह्यताभिदमस्मदीयं कुलकमायातं स्वशुभोपाजितं च प्रभूतं द्रविणजातं, सुच्यता-
 मभो पट्टुनाः, क्रियतामगमस्पाकमनुग्रहः इत्येवमभिहितो राजा तद्वचनमारुर्ण्य निशेषं पुनरपि वधमादिदेश । असावपि
 गिरु मां पाण्डूी ममस्तमोचनानभिप्रायं राजानमवेत्य पञ्चानां मीचन याचितवान्, तानप्यसौ राजा न मोक्तुमना
 इतीमगम्य चतुर्मोचनकृते सादर निश्चिस्तान्, तथाऽपि राजा तमनाटुल्य कुपितवदन एव स्थितः । ततस्त्रयाणां त्रिमोचने

नामादिभिरवशिष्टं व्यापादयोगोऽप्ययं गामी वनगङ्गा इत्येतत्परिहर्तुं काम आह—

नमा वि बुञ्चंति नमा नममंभारकडेणं कम्मुणा नामं च णं अब्भुवगतं भवति, तसाउयं च णं पन्दिगीणं भवति, नमकायद्वितीया ने ततो आउयं विष्पजहंति, ते तओ आउयं विष्पजहिता थावरत्ताण् पञ्चायंति । थावरा वि बुञ्चंति थावरा थावरसंभारकडेण कम्मुणा णामं च णं अब्भुव-
गनं भवति, थावरआउं च णं पलिखीणं भवति, थावरकायद्वितीया तो आउगं विष्पजहंति, ततो-
आउगं विष्पजहिता सुञ्जो पारळोडयत्ताण् पञ्चायंति, ते पाणा वि बुञ्चंति ते तसा वि बुञ्चंति, ते
नमाकाया चिरद्वितीया [सू० ८]

'नामना -' 'नमा' शिन्दिताऽयोऽपि नमा उच्यन्ते, ते च त्रयासप्तगम्भारकृतेन कर्मणा भवति, गम्भागे नाम
पारव्यदा इत्यनेन । एतास्मानुमाने वेदने, एत एतनामकर्मणा नमा अभिधीयन्ते, तमन्वेन गत्प्रतिबद्धमायुक्तं तत्र-
दारव्यासं नर्त्तति, इति तममम्भारकृतेन कर्मणा नमा इति व्यपदिशन्ते । यदा [च] नमायुः परिधीणं भवति, त्रमकाय-
विद्विदः । तस्य यदा वाग्भीत भवति, तत्र च वन्यतोऽन्तर्भूतं पुरकृततः यातिरेकपागरोपममहसद्वयपरिमाणं, तदा,
एवम् । तस्य । एतानामप्युक्तानां परिचयानि, अपराप्यपि तत्प्रवृत्तितानि कर्मणि परित्यज्य स्वयारत्वेन प्रत्या-

गान्ति, ध्यागगि नाम च तदास्पृषणं भवति, अगण्यपि तत्समञ्जरितानि सर्वात्मना त्रमत्तं परित्यज्य स्थावरत्वेनोदयं
 यानि इति, एवं अगण्ये कर्म स्थावरकायं व्यापादयतो गृहीतत्रमकायप्राणानिपातनिवृत्तेः श्रावकस्य व्रतमद् १ इति ।
 किञ्चान्यत्र ' धारगउपं च ण 'मित्यादि, यदा तदपि स्थावरशुद्धं परिशीणं भवति [तथा] स्थावरकायस्थितिश्च, मा
 गान्यतोऽन्नप्रदुर्गमृत्कृष्टनोऽन्नलसमार्थेयपुद्गलगतार्था इति, ततस्तन्कायस्थितेरभावात्तदायुःक परित्यज्य भूयः
 पारलौकिकरूपेण स्थावरकायस्थितेरभावात्प्रमत्तेन प्रत्यागान्ति । ' ते पाणा चि बुञ्चंति ' ते त्रममममारकृतेन कर्ममणा
 मन्वन्नाः मन्तः गामान्यसंज्ञया प्राणा अप्पुञ्चन्ते, प्रमा अप्पुञ्चन्ते, ते महाकाया योजनलक्षप्रमाणत्रपुञ्चिञ्चंणात्, तथा
 निगमिनिहा अप्पुञ्चन्ते, मास्थित्यपेक्षया त्रयमिञ्जत्सागरोपमायुःकमद्भावात् । तत्रममपर्यायव्यवस्थितानामेव प्रत्याक्यानं
 तेन गृहीत्वा, न तु स्थावरकायज्यस्थितानामपीति, यस्तु नागरिकदृष्टान्तो भवतोपन्यस्तोऽमात्रपि दृष्टान्तदाष्टान्तिकयो-
 रगम्यान्कालं मततोऽनुपामितगुरुकृत्वामित्तमामिदुक्तेति, तथाहि-नगरधर्मवृत्को नागरिकः, म च मया न हन्त्वयः,
 इति प्रतिज्ञां गृहीत्वा यदा तमेव व्यापादयति चहिःस्थितं पर्यायापन्नं तदा तस्य क्लिप्त व्रतमद् इति मवतः पक्षः, म च न
 पटने, गनो-यो दि नगरधर्मरूपेणः म चहिःस्थितोऽपि नागरिक एव, अतः पर्यायापन्नं हन्येतद्विशेषणं नोपपद्यते । अथ
 मासम्येन पस्तिगज्य नगरधर्मोन्नतौ पचेते ? तत्रस्तमेवेत्येतद्विशेषणं नोपपद्यते, तदेवमत्र त्रमः सर्वात्मना त्रसत्वं
 पस्तिगज्य यदा स्थावरः मद्रुत्पणने तदा पूर्वापर्यायपरित्यागादपर्यायापन्नत्वात्प्रम एवासौ न भवति, त[द्य]या-नागरिकः
 पक्ष्यां प्रतिप्लव्धर्मोन्नतत्वात्पूर्वधर्मपरित्यागात्नागरिक एवासौ न भवति । पुनरप्यन्यथोदकः पूर्वपथमारचयितुमाह—

सरायं उदङ् पेंडालपुत्ते भयवं गोयमं एवं त्रयासी-आउसंतो गोयमा ! नत्थि णं से केइ
परियाण् ज्ञं समगोचान्मगस्स एग्गपाणातित्रायत्रिए वि दंडे निखित्ते, कस्स णं तं हेउं ? ।

व्याख्या—स. ५. [। म. ५.] मुद्रकः पेंडालपूवो भगन्तं गौतममेवमादीत्, तद्यथा-आपुष्पन् गौतम ! नास्त्यसौ
स्त्विदं रणो रन एहथागानिगागिगितिये दण्डस्त्यक्तो भवति भ्रमणोपामरुस्य, एताता आनरु एकां प्राणातिपात-
वितागिगि पदीन् न त्रसोनीनि माः । कृष्णाद्रोः-रून कारणेन ? । अथोदकः कारणं दर्शयति—

संसारिया खट्टुपाणा, थात्रग वि पाणा नमत्ताए पच्चायंति, तस्मा वि पाणा थात्रत्ताए पच्चायंति ।
"यास्मि - मत्तगगीआः परदार पागिनः, ताः स्याराः मामान्येन त्रमतया प्रत्यागान्ति, त्रमा अपि स्थानरतया
संगपाणि, तंदा मनांगी पश्यममन प्रदर्श्याथुना यत्परेण पियक्षितं तदा[पिण्ठुवञ्चा]इ—

आरहायाओ पियमुच्चमाणा सन्ने तमकायंसि उनवज्जंति, तसकायाओ विष्पमुच्चमाणा
सो आरहायमि उरवज्जंति, नेमि च णं थात्रकायंसि उरवज्जानं ठाणसेयं घत्तं ।

व्याख्या—स्यारहायादिपम्व्यमानाः स्यारंभ्यो निर्पन्थ मीदपि प्राणितमसेपु मपुत्पयन्ते, स्यारशून्यं जगजातं
पियवनेन विम्व-मानाः मीदप पागिनः स्यारंभ्ये मपुत्पयन्ते, न कोदपि नयो जगति लभ्यन्ते, तेषां च त्रसानां
नन्ते स्यारहाया मपुत्पयानां ध्यानमेव नरु वाच्य भाति, यतः आरंभेण स्यारारभनिर्गुत्तिः कृता नास्ति, एताता

इत्याद्य-गणनाई, नर गिगनिमद्भारान् । ने च त्रसा नारकरिर्ध्वनरामरगतिभाजः सामान्यसंज्ञया प्राणिनोऽप्यभिधीयन्ते
 विभोपमंगा गमा[यपि]प्रभिधीयन्ते[तथा]महाकायाः, त्रैक्रियगरीरस्य योजनलक्षप्रमाणत्वादिति । तथा चिगस्थितिकास्त्रय-
 गिनानगरोपगणितमाणताद्भनस्थितैः, तथा[च]ने प्राणिनो नदूतमाः यैः श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यानं भवति, त्रसानुद्दिश्य
 नेन पत्राख्यानपरणान । भान्मने गर्भस्थाराणां त्रसत्त्वेनोत्पत्तेरतस्तेऽल्पतरकाः प्राणिनो, यैः श्रावकस्य अप्रत्याख्यानं
 मालि । इदमुक्तं भवति-अथशब्दस्याभावाच्चित्त्वाच्च सन्त्येव ते वेध्वप्रत्याख्यानमिति । इत्येवं पूर्वोक्तया नीत्या ' से '
 नस्य श्रमणोपासकस्य महानगमकायाद्गुणान्तस्योपरतस्य प्रतिविरतस्य मतः सुप्रत्याख्यानं मतीति । तदेवं व्यवस्थिते
 ' ण ' मिति तात्पारालद्वारे. ययुं यदय अन्यो वा कश्चिन्, यथा-नास्ति कोऽपि पर्यायो यत्र श्रावकस्य प्राणातिपात
 पत्राख्यानं भवति, अथमपि भावको नो नैयायिको-न युक्त इत्यर्थः । अथ श्रीगौतमब्रह्मणानां स्यात्परपर्यायापन्नानां
 व्यापादनेऽपि न त्रनगत्तो भवतीत्यस्यार्थस्य प्रसिद्धये दृष्टान्तत्रयमाह—

भगवं च णं उदाहु नियंठा खलु पुच्छियवा-आउसंतो नियंठा ! इह खलु संतेगतिया मणुस्सा
 भवंति, तेसिं च णं एवं बुत्तपुवं भवइ-जे इमे मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पवइया, एएसिं
 च णं आमरणंताए दंडे निखित्ते, जे इमे अगारमावसंति एतेसि णं आमरणंताए दंडे नो निखित्ते,
 केई च णं (हेत्वा) समणा जाव वासाइं चउपंचसाइं छद्दसमाणि अप्पयरो वा भुज्जयरो वा देसं

वा दुःखिता अगारमावनेजा ? हंता वसेजा, तस्स णं तं गारत्थं वहमाणस्स से पच्चख्वाणे
 भग्गे भवति ? नो उणभट्टे नमट्टे, एवामेव ससणोवासगस्स वि तसेहिं पाणेहिं दंडे निखित्ते थाव-
 रेहिं पाणेहिं दंडे नो निव्वित्ते, तस्स णं तं थावरकायं वहमाणस्स से पच्चख्वाणे नो भग्गे भवति ।
 नं एवमावाणः ? निव्वंटा !, एवमायाणियद्धं ।

एतं उच्यते, नगान गौमस्यामी अयगनि [नन] स्थिगन् माथिणः कर्तुमिदमाह—

नो उरु ! निव्वंटा : [युष्मन्स्थिगः] खलु प्रष्टव्यामनया-भो निर्ग्रन्था ! युष्माकमप्येतद्वक्ष्यमाणमभिमते
 अनेकित्तयः पुष्पाहमन्तरादभित्तयदद गच्छि, नयाहि-मन्त्येके मनुष्याः ये मृण्डा भूत्वाऽगारात्-गृहान्निर्गत्यानगारतां
 एवाम्, एतान्मा उच्यते, नैवानुगि याऽजीवाममणान्तं मया दण्डो ' निद्रिप्तः ' परित्यक्तो भवति, कोऽर्थः ?
 एवाम्गो मनुषो यतीनुत्थि यं गृह्णति, नया-न मया याऽजीव गतयो हन्तव्याः, एतावता याऽजीवं यतीन्न
 दन्तव्यं, गृह्णानुत्थि निव्वंटा नान्ति, एत न मति केचन मनुष्याः प्रवज्यां गृहीता अमणा जाताः क्रियन्तमपि
 एतं पारमपारा एवाम्ना याऽर्त्तानि चन्तारि पय पा एद् दग वा अलतरं वा प्रभुतर वा कालं तथा देशं च
 ' एद्विग्या विद्वंटा विद्वंटा रुपादियातयापिपरिगतेरगार-गृहमावसेयुः-गृहस्या भवेयुरित्येवम्भूतः पर्यायः कि
 म्माह्वरा ? उ नो, इत्येव पृथ निव्वंटाः पन्थुनुः-हन्त गृह्णास व्रजेयुः, ' तस्य च ' आऽरुस्य यतिनघगृहीतव्रतस्य

इना कल्पन्ति, किं ते नद्वयगाम कल्पन्ति सिक्वावित्तम्? इता कल्पन्ति, किं ते तद्वयगारा कल्पन्ति
 इन्द्राणि? इता कल्पन्ति, नैमि च णं तद्वयगाराणं सवपाणेहिं जात्र सवसत्तेहिं दंडे निखित्ते ?
 इना निनिने, नै णं एयारुवेणं विहारेणं विहरमाणा जात्र चासाइं चउपंचमाइं छट्टससाणि वा
 अयनगे वा भुज्जने वा देवं दृडजित्ता अगारं वइजा, तस्स णं सवपाणेहिं जात्र
 सवसत्तेहिं दंडे निखित्ते ? णां निणट्टे समट्टे, से जे से जीवे जस्स परेणं सवपाणेहिं जात्र सव-
 सत्तेहिं दंडे नो निखित्ते, ने जे से जीवे जस्स आरेणं सवपाणेहिं जात्र सवसत्तेहिं दंडे निखित्ते, से
 ने ने जीवे जस्स उदाणि सवपाणेहिं जात्र सवसत्तेहिं दंडे नो निखित्ते भवइ, परेणं अमंजए
 आरेणं मंजए, उदाणिं अमंजए, अमंजयस्स णं सवपाणेहिं जात्र सवसत्तेहिं दंडे नो निखित्ते
 नानि, ने एवमायाणइ ?, नियंठा !, से एवमायाणियव्वं ।

इना कल्पन्ति, किं ते नद्वयगाम कल्पन्ति सिक्वावित्तम्? इता कल्पन्ति, किं ते तद्वयगारा कल्पन्ति
 इन्द्राणि? इता कल्पन्ति, नैमि च णं तद्वयगाराणं सवपाणेहिं जात्र सवसत्तेहिं दंडे निखित्ते ?
 इना निनिने, नै णं एयारुवेणं विहारेणं विहरमाणा जात्र चासाइं चउपंचमाइं छट्टससाणि वा
 अयनगे वा भुज्जने वा देवं दृडजित्ता अगारं वइजा, तस्स णं सवपाणेहिं जात्र
 सवसत्तेहिं दंडे निखित्ते ? णां निणट्टे समट्टे, से जे से जीवे जस्स परेणं सवपाणेहिं जात्र सव-
 सत्तेहिं दंडे नो निखित्ते, ने जे से जीवे जस्स आरेणं सवपाणेहिं जात्र सवसत्तेहिं दंडे निखित्ते, से
 ने ने जीवे जस्स उदाणि सवपाणेहिं जात्र सवसत्तेहिं दंडे नो निखित्ते भवइ, परेणं अमंजए
 आरेणं मंजए, उदाणिं अमंजए, अमंजयस्स णं सवपाणेहिं जात्र सवसत्तेहिं दंडे नो निखित्ते
 नानि, ने एवमायाणइ ?, नियंठा !, से एवमायाणियव्वं ।

स्वायत्नेऽप्यन्वयाः । भार्योऽं नमस्वामारणोरपि द्रष्टव्यम् । एतन्न ' भगवं न णं उदात्त ' इत्यादिग्रन्थस्य ' से पून-
 सामानिगन्तः ' इत्येकान्वयेऽप्यानस्य वाच्यार्थम्, भगवन्तना तु युगमेति रात्रयया कार्यम् । तत्रैव द्वितीयं स्वयन्तं
 परस्परार्थना तृतीय स्वान्न परस्परिर्भिन्नोद्देशेन दर्शयितुमाह —

भगवं न णं उदात्तु नियंठा खलु पुच्छिद्यन्ना-आउसंतो नियंठा । केऽ खलु परिघायणा । ना।
 परिनाइयाथो ना अन्नयरेद्धितो तित्थाययणेद्धितो आगम्म भम्मसवणवत्सियं उनसंकमेजा ? हंता
 उतायं हमेजा ।

आह्वया-भगवान् गौतमस्वामी हापति निर्णयाः पृष्टव्याः निर्निन्थानुदिश्य पच्छिदि-भो भाष्यवन्तो निर्निन्था ।
 इह मां हिर परितापः परितापिहा ।। अन्यतीर्थायतनादायस्य याभ्युगमीपे भगं श्रीतुगपमङ्गमते ? निर्निन्था नदन्ति
 अम ताने, वाटगस्य परिताजहस्य कक्ष्यने भग्मैः ? इन्त कक्ष्यते, तमुपस्थापयितुं कल्पते ? इन्त कल्पते ।

किं तोहिं तहस्पगाराणं भग्मै आइन्निखयत्ते ? हंता आइन्निखयत्ते, तं चेव जाग उवट्टानित्तए,
 । कल्पंति ? हंता कल्पंति । किं ते तहस्पगारा कल्पंति संभुंजित्तए ? हंता कल्पंति, ते णं प्यारूव्थेणं
 विहारेणं विहरमाण्णा तं चेव जाग अगारं नपूजा ? हंता वपूजा, ते णं तहस्पगारा कल्पंति संभुंजित्तए ?

सायाय-शुशीना दुर्गेगिगामिनो भवन्ति । एतदृक्तं भवति-महारम्भपरिग्रहत्वात्ते मृताः पुनरन्यतरपृथिव्यां नाशकत्रमत्वेनो-
 च्यन्ते, न च मामान्मत्तया प्राणिनो गिजेगमंरया त्रमाः महाकायाश्चिरस्थितिका इत्यादि पूर्ववत्, यावत् ' नो जेआ-
 उरुति ' । एतदप्यन्येन प्रकारेण प्रत्याख्यानस्य नियमं दर्शयितुमाह—

भगवं च णं उदाह संनेगनिया मणुस्सा भवंति [तं जहा] अणारंभा अपरिगहा धम्मिसया
 धम्मसाणुया जात्र मत्ताओ परिगहाओ पडिविरया जात्रजीवाए, जेहिं समणोवासगस्स आया-
 णमो आमरणंताए दंडे निखित्ते, ते तओ आउयं विप्पजहंति, ते तओ भुज्जोसगमादाए सोगति-
 गामिणो भवंति, ते पाणा वि बुच्चंति जात्र णो णेयाउए भवति ।

व्याख्या—अमरानाह-मन्थेके मनुष्याः महारम्भपरिग्रहादिभ्यो विपर्यस्ताः सुशीलाः सुत्रताः सुप्रत्यानन्दाः साधव
 इत्यादि सुगमं, यान् ' नो णेयाउए भवन्ति ' एते च मामान्यश्रामस्तेऽपि त्रसेध्वेयान्यतरेषु देवेषूत्पद्यन्ते अतोऽपि न
 निर्गम्य प्रत्याख्यानमिति । क्रिआन्यन्—

भगवं च णं उदाह संनेगनिया मणुस्सा भवंति, तंजहा-अपिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिगहा
 धम्मिसया धम्मसाणुया जात्र एगच्चआओ परिगहाओ अप्पडिविरया, जेहिं समणोवासगस्स आया-

व तर्हि, ने पाणा नि | नुच्चन्ति | ते नमा [वि बुच्चन्ति] ते महाकाया ते समाडया [ते बहुतरगा,
ने नि पाणयोतानमन्व नुपच्चन्मनायं भवति, | जात्र नो णेआउए भवति ।

अत्राणो—ए. साहायन। पन्थात्तानं गृह्णन्ति ते न ममापुष्पा एके प्राणिनः मन्ति ते मममेव कालं कुर्वन्ति
इति एते ममासो नान्ति, ते ममायत्ता परि यथा एव, तेषां यात्तस्य पर्याख्यानं सुप्रत्याख्यानं भवति, यदुच्यते
अत्राणो न सोऽपि यथायं एव यात्तस्य पर्याख्यानं स्यादपि गृध्रेति अर्थे से नो णेआउए ।

अत्राणो न पा उदाट्टमनेगानिवा पाणा अप्पाउगा, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणं-
एए उं [निमित्तं भाउ], ते पुत्रामेव कालं करिंति, करित्ता पारलोइयत्ताए पञ्चायंति, ते पाणा०
ने नना० ने ममाहाथा ने अप्पाउवा ने बहुतरगा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चन्मनायं हवइ
ने उपातरगा जेहिं समणोवासगस्स दुपच्चन्मनायं हवइ इति से सहया जात्र नो णेआउए भवइ ।

अत्राणो—ए. साहायनः इत्याद्यः नन्ति नेऽपि एता उच्यन्ते, एते प्रत्याख्यानान्नुपणोषामहात्तुं श्रियन्ते, तदिपयं
एते ममासो नान्ति, एता एते ममायत्तिय पर्याख्यान अत्राणोवासगस्स अत्राणोवासगस्स अत्राणोवासगस्स
अत्राणोवासगस्स नान्ति । यथा न निरुत्त तात्पर्यापय प्रत्याख्यानं स्यात्, ते तु मृत्वा पुनरुपगन्त्येन्पद्यन्ते नदाऽप्रतोऽपि

नस्य प्राणं जे तमा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो अमरणं ताए दंडे निखिसे, ते ततो
 पाउं विपपत्तं विषजहिं ता तथ आरेणं चैव जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स, आयाणसो
 (इति निमित्तं) ज्ञातं तेषु पञ्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चत्तखायं भवति । ते पाणा वि
 चरन्ति ते तस्मात् महाकाया ते चिराद्वितीया जाव अयंपि भेदे से नो जेयाउए ॥ १ ॥ [सू० ११]

'म. पा.' 'न' 'गृहीतपरिमाणे देशे ये आरेण तमाः प्राणा येषु श्रमणोपागमस्य आदान इत्यादिारम्याऽऽमरणान्तो
 'म. पा.' 'वि. पा.' पश्चिन्तनी मर्त्या, ने च तमाः प्राणाः स्थायुःकं परित्यज्य तं ता-गृहीतपरिमाणदेशं पृथु योजनादिदेजा-
 'म. पा.' 'वि. पा.' ताः पाणादीन् पश्यायान्ति, इदमुक्तं भवति-गृहीतपरिमाणे देशे त्रयायुःकं परित्यज्य त्रमेध्वेवोत्पद्यन्ते, ततश्च
 'म. पा.' 'वि. पा.' येषु मर्त्याः, उभयथापि तस्मान्मनुमानान्, अयं सुगम, यात् 'नो जे आऊण भवति' ति
 'म. पा.' 'वि. पा.' ताः पाणादीन् पश्यायान्ति । तयांगेनानि तस्य आरेण जे तमा पाणा जेहिं समणोपागमस्य आया-
 'म. पा.' 'वि. पा.' ताः पाणादीन् पश्यायान्ति, ते ततो पाउं विपपत्तं विषजहिं ता तथ आरेणं चैव जे तसा पाणा जेहिं
 'म. पा.' 'वि. पा.' ताः पाणादीन् पश्यायान्ति । तयांगेनानि तस्य आरेण जे तमा पाणा जेहिं समणोपागमस्य आया-
 'म. पा.' 'वि. पा.' ताः पाणादीन् पश्यायान्ति, ते ततो पाउं विपपत्तं विषजहिं ता तथ आरेणं चैव जे तसा पाणा जेहिं
 'म. पा.' 'वि. पा.' ताः पाणादीन् पश्यायान्ति, ते ततो पाउं विपपत्तं विषजहिं ता तथ आरेणं चैव जे तसा पाणा जेहिं

तत्र जे अरिणं तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए जाव आउं
 विप्पजहंति [विप्पजहिंता] तत्र परेणं जे तसा-थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो
 आमरणंताए दंडे निखित्ते, तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चखायं भवइ । ते पाणा
 वि जाव, अयं पि भेदे से णो नेयाउए ॥ ३ ॥ तत्र जे अरिणं थावरा पाणा जेहिं समणोवा-
 सगस्स आयाणसो अट्टाए दंडे अणिखित्ते अणट्टाए निखित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति
 विप्पजहिंता तत्र अरिणं चैव जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए०
 तेसु पच्चायंति, जेहिं [तेसु] समणोवासगस्स सुपच्चखायं भवति, ते पाणा वि बुच्चंति जाव
 अयं पि भेदे नो णेयाउए ॥ ४ ॥ तत्र जे ते अरिणं थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्टाए
 दंडे अणिखित्ते अणट्टाए णिखित्ते ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहिंता तत्र अरिणं चैव
 जे थावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स अट्टाए दंडे निखित्ते तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवा-
 रागस्स सुपच्चखायं भवति ते पाणा वि० जाव अयं पि भेदे से नो० ॥ ५ ॥ तत्र णं जे ते

योगं धारय पाणा, जेहि समणोवासगस्स अट्टाए दंडे अणिविखत्ते, अणट्टाए णिविखत्ते, ते तओ
 आउं विप्वज्जंनि विप्वज्जाहिजा ते तत्थ आरेणं चेव जे तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स
 आयाणनो आमरणंताए० तेनु पञ्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं हवइ, ते पाणा वि०
 जाय अयंनि भेदं ने णो णेयाउए भवति ॥ ६ ॥ तत्थ जे ते परेणं तसथावरा पाणा जेहिं समणो-
 वागस्स आयाणनो आमरणंताए अट्टाए अणट्टाए दंडे निखिलत्ते हवइ, ते तओ आउं विप्वज-
 णो विप्वज्जंनि तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए
 दंडे निखिलं नेनु पञ्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं हवइ, ते पाणा वि० जाव
 अंयंनि भेदं ने णो णेयाउए भवति ॥ ७ ॥ तत्थ जे ते परेणं तसथावरा पाणा जेहिं समणोवा-
 गस्स आयाणनो आमरणंताए अट्टाए अणट्टाए दंडे निखिलत्ते, ते ततो आउं विप्वज्जंति विप्व-
 ज्जंनि तत्थ आरेणं जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्टाए दंडे अणिविखत्ते अणट्टाए
 दंडे निखिलं नेनु पञ्चायंति तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते पाणावि० जाव अंयंनि

भेदे से णो णेयाउए भवति । ॥ ८ ॥ तत्थ जे ते परेणं तसथावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए अट्ठाए अणट्ठाए दंडे निक्खित्ते, ते ततो आउं विप्पजहंति विप्पजहिंत्ता ते तत्थ परेणं चेव जे तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे निक्खित्ते तेसु पच्चायंति जे(ते)हिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते पाणा वि० जाव अयंपि भेदे से नो णेयाउए भवति ॥ ९ ॥

व्याख्या—गृहीतपरिमाणे देशे ये त्रसास्ते [गृहीतपरिमाणदेशस्थाशा]स्नेष्वेव त्रसेषूत्पद्यन्ते इति प्रथमो भङ्गकः ॥ १ ॥ द्वितीयं सूत्रं त्वारादेशवर्तिनस्त्रमा आरादेशवर्तिषु स्यामरेषूत्पद्यन्ते (इति) द्वितीयः ॥ २ ॥ तृतीये त्वारादेशवर्तिनस्त्रमा गृहीतपरिमाणदेशाद्द्रव्यं त्रमाः स्थावराश्च तेषूत्पद्यन्ते अयं तृतीयः ॥ ३ ॥ चतुर्थे त्वारादेशवर्तिनो ये स्थावरास्ते तद्देशवर्तिष्वेव त्रसेषूत्पद्यन्ते अयं (चतुर्थः) तुर्यः ॥ ४ ॥ पञ्चमसूत्रे तु आरादेशवर्तिनो ये स्थावरास्ते गृहीतपरिमाणस्थेषु तद्देशवर्तिषु स्थावरेषूत्पद्यन्ते अय पञ्चमः ॥ ५ ॥ षष्ठसूत्रं तु परदेशवर्तिनो ये त्रसाः स्थावरास्ते आरादेशवर्तिषु त्रसेषूत्पद्यन्ते अयं षष्ठः ॥ ६ ॥ सप्तमसूत्रं त्रिदं- परदेशवर्तिनो ये त्रसाः स्थावरास्ते आरादेशवर्तिषु त्रसेषूत्पद्यन्ते अयं सप्तमः ॥ ७ ॥ अष्टमसूत्रं तु परदेशवर्तिनो ये त्रमाः स्थावरास्ते आरादेशवर्तिषु स्थावरेषूत्पद्यन्ते अष्टमः ॥ ८ ॥ नवमसूत्रे परदेशवर्तिनो ये त्रसाः स्थावरास्ते परदेशवर्तिष्वेव त्रसस्थावरेषूत्पद्यन्ते नवमोऽयम् ॥ ९ ॥ (एवमनया प्रक्रियया नृवापि सूत्राणि मणनीयानि)

॥ पर [पु] रारा रातः गांशुस्य अणोपामहेनामणान्तो दण्डुस्त्यक्त इत्येवं योजनीयं, यत्र तु स्थारा-
राणां च ततो न निरासा न परित्यक्तः, जननीय च दण्डः परित्यक्त इति । जेषाक्षरघटना तु सानुक्त्या विभेजेति ।

भगवत्तु च णं उदात्तं ण एयभृयं ण एयं भनं ण एयं भविस्संति जणं तसा पाणा वोच्चि-
च्छिंति याया पाणा भविस्संति, आत्ररा पाणा [त्रि] वोच्चिच्छिंति तसा पाणा भविस्संति,
भविस्संति तम-आरसिं पाणेहिं जणं तुभे वा अन्नो वा एत्वं वदह-णत्थि णं से केइ परिआण्
जाय नो णोआउण् भवति । [सु० १२]

॥ १२ ॥ — नानान् गोमिष्ट्यामपुट्टक पनेतरादवाया-ओ उरुह । नेतद्वृत्तमान्ते काले प्रागतिरान्ते नाप्यगामिनि
दन्ते । इत्याद्यानि नाप्योदगोमाने तत्रे भवति यत्र साः मयोया निर्लेपतया साज्जात्पुच्छेदं नो छेत्स्यन्ति-विच्छेदं यास्यन्ति,
मयं स्थारा एव नास्वन्ति, स्थायाय पाणिनः कालयेदपि न भविष्यन्ति-विच्छेदं यास्यन्ति, मयं अपि अगा भविष्यन्ति ।
स्वनि नोप्यप्यमममेत मननमिवावयापि न मयि काले न निर्लेपतया अगाः मयं स्थारा भवन्ति स्थाराश्च मयं अपि
निर्लेपतया एव भवन्ति, नोऽस्मिन् तस्मिन् अपि, यद्वृत्त-अत्याख्यानिमेकं पिहाय परेषां नारकाणां द्विन्द्रियादीनां तिरथां
भन्वन्ति । मयाऽप्यनाः, एतं च यमपि पत्याख्यान निर्माणं भवति यदि तस्य प्रत्याख्यानो जीयत एव
मयं नारकादप्यनाः भवन्ति तन्ने, नायं भाः मम भवति, स्थायास्त्वानन्ता न यमेव मम भवन्ति अमास्तयं ज्ञानास्ते

तन्नाः अनन्ताः कथममदृष्यातेषु मम्मन्ति ? सुप्रतीतमिदं, तदेवमव्यवच्छिन्नेस्वसैः स्थात्रैश्च प्राणिभिर्यद्वदत युयमन्यो
ना कश्चिद्वदति यन्नास्त्यसौ कश्चित्पर्यागो यच्छानरुस्थैरुन्नसत्रिपयोऽपि दण्डः परित्यक्तो भवति, तदेतत्सर्वमप्ययुक्तमिव
प्रतिगामते । साम्प्रत उपसंजिष्टयुराह—

भगवं च णं उदाहु आउसंतो उदगा ! जे खलु समणं वा माहणं वा परिभासे इगिसिं
मन्नंति + आगमिन्ना नाणं आगमिन्ना दंसणं आगमिन्ना चरित्तं पात्ताणं कम्ममाणं अकरणणाए
से खलु परलोथ-पलिमंत्ताए चिट्ठति, जे खलु समणं वा माहणं वा जो परिभासाइ मिसिं
मन्नमाणे X आगमेत्ता नाणं आगमेत्ता दंसणं आगमेत्ता चारित्तं पात्ताणं कम्ममाणं अकरणणाए
से खलु परलोथविसुद्धीए चिट्ठति ।

व्याख्या—श्री गौतमस्नाम्युदकं प्रत्युनाच । आशुष्पन्नुदक ! खलु श्रमणं वा माहणं वा साह्वानं वा साह्वानं गोपितं ' परिभाषणं '
निन्दति यैः श्री मन्यमानोऽपि तथा सम्यग्ज्ञानमामम्य तथा दर्शनं चारित्रं च पापानां कर्मणामकरणाय सशक्तितः । यत्किञ्च
एतद्वदति, पण्डितं मन्यः परलोकस्य सुगतिलक्षणस्य सत्त्विककारणस्य वा ' पलिमन्नाम ' विभाषणं विभाषणं,
यस्तु प्रत्येकपापेण स्वाहात्तद्वदतीति न श्रमणादीन् परिभाषते तेषु च परमां धैत्रीं प्रन्यते सम्यग्दर्शकत्वान्नानां पापयत्नमप्यप्य
+ " सत्तमांण " इत्येवमन्त्या युद्धयापानि । X " सन्नंति " इति बहुवच्यार्थेषु ।

धार्मिकं तथा शोभनवचनं श्रुत्वा निश्चय्याऽऽत्मन एव तदनुत्तरं योगक्षेमपदमित्येव नवगम्य 'सुखमया'—कुशाग्रीयया बुद्ध्या
 'प्रत्युपेक्ष्य'—पर्यालोच्य तद्यथा—अहमनेनैवम्भूतमर्थपदं 'लम्बितः' प्रापितः सन्नमावपि तावन्नौ किरुस्तमुपदेशदातार-
 माद्रियते पूज्योऽयमित्येत्वं जानाति तथा कल्याणं मङ्गलं देवतामिव स्तौति पर्युपास्ते च यद्यप्यसौ पूजनीयः किमपि नेच्छति
 तथापि तेन [तस्य] परमार्थोपकारिणो यथाशक्ति विधेयमिति । तदेवं गौतमस्वामिनाऽभिहित उदक इदमाह—

तए णं से उदए पेढालपुत्ते भयवं गोयमं एवं वयासी—एतेसि णं भंते ! पदाणं पुब्बिं अन्नाण-
 याए असवणयाए अत्रोहिए अणमिगमेणं अदिट्ठाणं असुयाणं अमुणयाणं अत्रिन्नायाणं अनि-
 गूढाणं अवोच्छन्नाणं अणिसिट्ठाणं अणिवूढाणं अणुवहारियाणं एयमट्ठं नो सद्वहियं
 नो पत्तियं नो रोइयं एतेसि णं भंते ! पदाणं इहं जिणयाए सवणयाए बोहिए जात्र उवहारणयाए
 एयमट्ठं सद्वहामि पत्तियामि रोएमि एवमेव जहेयं तुब्भे वदह । तए णं भगवं गोतमे उदयं
 पेढालपुत्तं एवं वयासि—सद्वहाहि णं अजे ! पत्तियाहि णं अजे ! रोएहि णं अजे ! एवमेयं जहा णं
 अम्हे वदामो । तए णं से उदए पेढालपुत्ते भयवं गोयमं एवं वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भ
 अंतिए चाऊज्जामाओ धम्ममाओ पंचमहवइयं सपडिक्कमणं घम्मं उवसंपज्जित्ताणं त्रिहरित्तए । तए णं

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

॥ श्रीकल्याणं भूयात् ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥